प्रकाशक तथा मुद्रक
घनश्यामदास
गीताप्रेस, गोरखपुर।

संवत् १९८६
प्रथम संस्करण २०००
मूल्य =)॥

मिलनेका पता—गीताप्रेस, गोरखपुर।

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

विषय-सूची

श्रीहरिः

निवेदन

इस पुस्तिकाको पढ़कर कोई सज्जन यह न समझें कि इसका लेखक कोई सिद्ध महात्मा पुरुष है। वास्तवमें इसका लेखक साधन-पथका एक साधारण विद्यार्थी मात्र है और आगे बढ़नेकी यत्किञ्चित् चेष्टा कर रहा है। परन्तु इस पुस्तिकामें जो कुछ लिखा गया है सो बड़े अच्छे लोगोंके अनुभवकी बातें हैं अतएव यह दावेके साथ कहा जा सकता है कि इस छोटीसी पुस्तिकाके अनुसार अपना जीवन बनानेवाले सज्जन साधन-पथ-पर निस्सन्देह बहुत कुछ अग्रसर हो सकेंगे।

लेखक

वृन्दावन-विहारी श्रीकृष्ण

GITA PRESS GORAKHPUR

श्रीहरिः

साधन-पथ

जीवनका परम ध्येय

हरिरेव परं ब्रह्म हरिरेव परा गतिः ।
हरिरेव परामुक्तिर्हरिर्गेयः सनातनः ॥

भगवान् व्यास—

विविध विघ्न-बाधा-संकुल इस जगत्में जो मनुष्य भगवत्-प्राप्तिके लिये साधन करता है वह वास्तवमें बड़ा ही भाग्यशाली है । संसारमें अधिकांश लोग तो यथार्थतः ईश्वर-के अस्तित्वको ही नहीं मानते । जो मानते हैं उनमें अधिकांशकी बुद्धि तमोगुणके अन्धकारमय आवरणसे आच्छादित रहनेके कारण वे भगवत्-प्राप्तिकी शुभेच्छा नहीं करते । जो सौभाग्यवश श्रवणादिके प्रभाव-से भगवत्-प्राप्तिके महत्त्वका कुछ ज्ञान रखते हैं, उनकी विक्षिप्त बुद्धि भी प्रायः विविध कामनाओंसे हरण की हुई रहनेके कारण वे भगवान्का कुछ भजन-स्मरण करके भी उसके बदलेमें तुच्छ

भोगोंकी ही इच्छा करते हैं। इनसे आगे बढ़े हुए कुछ लोग बुद्धिकी सात्त्विक वृत्तियोंके अनुसार साधनका आरम्भ तो करते हैं परन्तु अध्यवसाय और उत्साहकी न्यूनता, लक्ष्यकी अस्थिरता और विघ्नोंकी पहचानके अभाव तथा विघ्ननाशके उपाय न जाननेके कारण चरमलक्ष्यतक पहुंचनेके पहले ही साधन छोड़कर पथभ्रष्ट हो जाते हैं। इसीसे भगवान्‌ने कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥
(गीता ७।३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई विरला ही मेरे लिये (भगवत्-प्राप्तिके लिये) यत्न करता है और उन प्रयत्न करनेवालोंमें भी कोई विरला भगवत्-परायण पुरुष ही मुझे तत्त्वसे जान सकता है।'

इतना होनेपर भी जीव स्वभावतः परमात्माको ही चाहता है। क्योंकि सुखकी चाह सबको है और सभी पूर्ण, दुःखरहित तथा नित्य सुख चाहते हैं। कोई भी ऐसे सुखका अभिलाषी नहीं है, जो अल्प, दुःखमिश्रित और नाश होनेवाला हो। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बहुत बार मनुष्य किसी अल्प सुखविशेषको ही पूर्ण सुख मानकर कुछ समयके लिये उसमें तृप्त होना चाहता है, पर कुछ ही कालके बाद उसको जब उस सुखमें किसी अभावकी प्रतीति होती है तब वह उसमें सन्तुष्ट न रहकर अभावकी पूर्तिके

लिये आगे बढ़ता है। इससे यह सिद्ध होता है कि उसे अभावमय सुख सदाके लिये सन्तुष्ट नहीं कर सकता। वह पूर्ण सुख चाहता है। पूर्ण, नित्य, अभावरहित सुख उस सत्, त्रिकालव्यापी और त्रिकालातीत वस्तुका स्वरूप है, वह वस्तु केवल परमात्मा है। इस न्यायसे विविध जीव-नदियोंका प्रवाह भिन्न भिन्न पथोंसे अनेकमुखी होकर उस एक ही नित्य सुख-सागर परमात्माकी ओर सतत बह रहा है। जीवकी यह अनादिकालीन सुखस्पृहा उसकी परमात्म-मिलनाकांक्षा-को प्रकट करती है। जहांतक उसे अपने चरमलक्ष्यकी प्राप्ति नहीं हो जायगी, वहांतक इस प्रवाहकी गतिका कभी विराम नहीं होगा।

परन्तु अज्ञान-तिमिराच्छन्न होनेके कारण सुखके यथार्थ स्वरूप-को जीव पहचान नहीं सकता। इसीसे उसके मार्गमें अनेक प्रकारके विघ्न उपस्थित होते हैं। कभी वह मार्ग भूल जाता है, कभी रुक जाता है, कभी उल्टा चलनेकी चेष्टा करता है, कभी हताश होकर बैठ जाता है और कभी किसी पान्थशालाको ही घर मानकर, अल्प सुखको ही परम सुख समझकर उसीमें रम जाता है। इसीलिये ऐसे जीव पामर या विषयी कहलाते हैं। इसके विपरीत जो अपने ध्येयको समझकर उसीकी प्राप्तिके लिये बड़ी तत्परताके साथ यथाशक्ति नित्य निरन्तर प्रयत्न करते हैं, वे (मुमुक्षु) साधक कहलाते हैं। इस प्रकार साधन-पथारूढ़ होनेके लिये सबसे पहले ध्येय निश्चित करने, लक्ष्य ठीक करनेकी आवश्यकता है।

परम ध्येय क्या है ?

मनुष्यको सबसे पहले इस बातका निश्चय करना चाहिये कि मेरे जीवनका परम ध्येय क्या है ? किस लक्ष्यकी ओर जीवनको ले चलना है । जबतक यह स्थिर नहीं कर लिया जाता कि मुझे कहां जाना है, तबतक मार्ग या मार्गव्ययकी चर्चा करना जैसे निरर्थक है, वैसे ही जबतक मनुष्य अपने जीवनका ध्येय निश्चित नहीं कर लेता कि मुझे इस जीवनमें क्या लाभ करना है, तबतक कौनसे योगके द्वारा क्या साधन करना चाहिये, यह जाननेकी चेष्टा करना भी व्यर्थ है । इस समय जगत्‌में अधिक लोग प्रायः निरुद्देश ही भटक रहे हैं—प्रकृतिके प्रवाहमें अन्धे हुए बह रहे हैं, उन्हें यह पता नहीं कि हम कौन हैं ? जगत्‌में मानवदेह धारण करके क्यों आये हैं और हमें क्या करना है ? किसी भी प्रकारसे धनोपार्जन कर कुटुम्बका भरण-पोषण करना और उसीके लिये जीवन बिता देना, साधारणतः यही अधिकांश लोगोंकी जीवनचर्या है ।

ऊपर कहा जा चुका है और यह प्रत्येक मनुष्यका अनुभव भी है कि हम सुख चाहते हैं । अब विचार यह करना है कि हम जिन वस्तुओंके संग्रह और संरक्षणमें अपना जीवन बिता रहे हैं, वे क्या वास्तवमें सुखरूप हैं ? यह तो सभी जानते हैं कि संसारकी प्रत्येक वस्तु क्षणभंगुर और विनाशशील है । जो विनाशी है वह अनित्य है, और जो अनित्य है उसका एक दिन वियोग अवश्यम्भावी

है। जिस वस्तुकी प्राप्ति और भोगके समय सुख होता है उसके वियोगमें दुःख अवश्य होगा। अतः संसारकी प्रत्येक वस्तु वियोगशील होनेके कारण दुःखप्रद है। पुत्रके जन्मके समय बधाइयाँ बांटी जाती हैं, बड़ा आनन्द होता है, बच्चेको घरमें खेलता देख देखकर चित्त-कुसुमकी कलियाँ खिली जाती हैं, परन्तु एक दिन ऐसा अवश्य आता है, जिस दिन या तो वह हमें छोड़कर चल बसता है या उसे छोड़कर हमें परवश परलोक सिधारना पड़ता है। अपनी मानी हुई प्रिय वस्तु जब छूटती है तब जो दुःख होता है, उसका अनुभव हम सभीको होना चाहिये। इसलिये इस पुत्र-वियोगमें हमें उतना ही, प्रत्युत उससे भी अधिक दुःख होता है, जितना सुख उसके जन्म होनेके समय और पीछे उसे आंगनमें खेलते देखकर हुआ था। यही न्याय स्त्री-स्वामी, माता-पिता, गुरु-शिष्य, मान-कीर्ति और शरीर-स्वर्ग आदि सभीमें लागू होता है। सारांश यह कि, अनित्य वस्तुमें केवल और पूर्ण सुख कदापि नहीं होता। उसका अन्त तो दुःखमय होता ही है, विचार करनेपर अनित्य वस्तुका सुख भोगकालमें भी दुःखसे सना हुआ ही प्रतीत होता है।

इसलोक और परलोकके सभी भोग-पदार्थ अनित्य हैं। परन्तु इस अनित्यके पीछे अधिष्ठानरूपसे जो एक सत्य छिपा हुआ है, जो सदा एकरस और अव्यय है वही नित्य वस्तु है। उसीके सम्बन्धमें गीता कहती है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्-
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
(गीता २ । २०)

—'जो किसी कालमें न जन्मता है, न मरता है, न होकर फिर होनेवाला है वह तो अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है। शरीरके नाशसे उसका नाश नहीं होता।' ऐसा वह परमपदार्थ केवल परमात्मा है, उस परमात्माके एकत्वमें अपनी कल्पित भिन्न सत्ताको सर्वथा विलीन कर देना—केवल उस एक परमात्माका ही शेष रह जाना भगवत्-प्राप्ति है और यही हमारे जीवनका परम ध्येय है। उपर्युक्त नित्यानित्य वस्तु-विचारसे ही यह ध्येय निश्चित किया जाता है। इस ध्येयकी ओर सदा लगे रहनेके लिये सर्व-प्रथम साधन है वैराग्य ।

वैराग्य

इहलोक और परलोकके समस्त दृष्ट श्रुत या अदृष्ट अश्रुत पदार्थोंसे सर्वथा वितृष्ण हो जाना वैराग्य कहलाता है। जबतक विषयोंमें अनुराग रहता है, तबतक परमात्म-प्राप्तिके चरम ध्येयपर मनुष्य दृढ़तासे स्थिर नहीं रह सकता। विषयानुरागकी निवृत्ति विषय-विरागसे होती है। विषयोंमें चित्तका अनुराग प्रधानतया चार कारणोंसे हो रहा है—(१) विषयोंका अस्तित्व-बोध, (२) विषयोंमें रमणीयताका बोध, (३) विषयोंमें सुख-बोध और (४) विषयोंमें प्रेमका बोध।

विवेकद्वारा इन चारोंका बाध करनेपर वैराग्यकी प्राप्ति होती है। इसलिये नित्यानित्य वस्तु-विवेककी आवश्यकता पहले होती है। विवेकसे वैराग्य जागृत होता है और वैराग्यसे विवेक स्थिर और परिमार्जित होता है, यह दोनों अन्योन्याश्रित साधन हैं। उपर्युक्त चारों कारणोंमें पहलेका बाध प्रायः सबसे पीछे हुआ करता है, क्योंकि यह पहला ही तीनोंका मूल आधार है। जगत्का अस्तित्व ही बुद्धिसे जाता रहे तो फिर उसमें रमणीयता, सुख और प्रेमका तो कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। परन्तु ऐसा होना बहुत कठिन है। अतएव साधकको क्रमशः पिछले तीनों-का बाध करके फिर पहलेका नाश करना पड़ता है।

रमणीयताका बाध

विषयोंकी ओर चित्त-वृत्तियोंके आकर्षित होनेमें सबसे पहला कारण उनमें रमणीयताका बोध है। विषयोंमें रमणीयताका भास बुद्धिके विपर्ययसे ही होता है। बुद्धिके विपर्ययमें अज्ञानसम्भूत अविद्या प्रधान कारण है। इस अविद्यासे ही हमें असुन्दरमें सुन्दर-बुद्धि, अनित्यमें नित्य-बुद्धि, दुःखमें सुख-बुद्धि, अपवित्रमें पवित्र-बुद्धि, प्रेमहीनमें प्रेम-बुद्धि और असत्‌में सत्-बुद्धि हो रही है, उल्लूकी भांति रातमें दिन और दिनमें रात इस अविद्यासे ही दीखता है। इसीसे हमें अस्थि-चर्मसार शरीर और तत्सम्बन्धीय तुच्छ पदार्थोंमें रमणीय-बुद्धि हो रही है। मनुष्य जिस विषयका निरन्तर चिन्तन करता है, उसीमें उसकी समीचीन बुद्धि हो जाती है, यह समीचीनता ही रमणीयताके रूपमें परिवर्तित होकर हमारे मनको आकर्षित करती रहती है। अब विचारना चाहिये कि विषयों-में वास्तवमें रमणीयता है या नहीं और यदि नहीं है तो रमणीयता क्यों भासती है?

विचार किया जाय तो वास्तवमें विषयोंमें रमणीयता बिल्कुल नहीं है। जो शरीर हमें सबसे अधिक सुन्दर प्रतीत होता है, उसमें क्या है? वह किन पदार्थोंसे बना है? हड्डी, मांस, रुधिर, चर्म, मज्जा, मेद, कफ, विष्ठा और मूत्र आदि पदार्थोंसे भरे इस ढाँचेमें कौनसी वस्तु रमणीय और आकर्षक है? अलग अलग

देखनेपर सभी चीजें घृणास्पद प्रतीत होती हैं। यही हाल और सब वस्तुओंका है। वास्तवमें रमणीयता, किसी वस्तुमें नहीं होती, वह कल्पनामें रहती है। कल्पना ही रूढ़ी बनकर तदनुसार धारणा करानेमें प्रधान कारण होती है।

हम लोगोंको जहां गौर वर्ण अपनी ओर आकर्षित करता है, वहां हवशियोंको काली सूरत ही रमणीय प्रतीत होती है। चीनमें कुछ समय पूर्व स्त्रियोंके छोटे पैरोंमें लोगोंकी रमणीय-बुद्धि थी। लड़कियोंको बचपनसे ही लोहेकी जूतियाँ पहना दी जाती थीं, जिससे उनके पैर बढ़ने नहीं पाते थे। यद्यपि इससे उन्हें चलनेमें बड़ी तकलीफ होती थी परन्तु रमणीय-बुद्धिसे बाध्य होकर वे प्रसन्नता-पूर्वक ऐसा करती थीं। राजस्थानकी मारवाड़ी स्त्रियां बेहूदे गहने-कपड़ोंके भारी बोझसे कष्ट सहन करनेपर भी उन्हें पहंनकर अपने-को सुन्दर समझती हैं, पर गुजरातकी सादी पोशाक धारण करने-वाली स्त्रियां उसे देखकर हँसती हैं। ठीक इससे विपरीत मनोवृत्ति मारवाड़ी बहनोंकी गुजराती बहनोंके वेश-भूषाके प्रति होती है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि रमणीयता, किसी विषयमें नहीं है, वह हमारे मनकी कल्पनामें है। हमने ही विषयोंमें सुन्दरताकी कल्पना कर ली है!

विषयोंमें सुखका बाध

यह कहा जा सकता है कि, मान लिया, विषयोंमें रमणीयता

नहीं है परन्तु उनके भोगमें सुख तो है। इसका उत्तर यह है कि विषयभोगोंमें वास्तवमें सुख नहीं है। कमरेमें लगे हुए कांचके ग्लोबमें बिजली नहीं होती, वह तो सीधी पावर-हाउससे आती है, क्योंकि उसका उद्गम-स्थान वही है। इसीप्रकार सुख भी सुखके परम उद्गम-स्थान आनन्दरूप आत्मासे आता है। विषयमें सुख होता तो भोगके उपरान्त भी उसमें सुखकी प्रतीति होनी चाहिये। पर ऐसा नहीं होता। बड़ी भूख लगी है, सूखी रोटी भी बहुत स्वादिष्ट मालूम होती है, सुन्दर मिष्टान्न मिल गया, खूब पेटभर खाया। अब जरासी भी गुंजाइश नहीं रही, पेट फूलनेकी नौबत आगयी। इसके बाद यदि कोई उसी मिष्टान्नको खानेके लिये हमारी इच्छाके विरुद्ध जोरसे आग्रह करता है तो हमें उसपर गुस्सा आ जाता है। वही मिष्टान्न, जो कुछ समय पूर्व बड़े सुखकी सामग्री था, अब दुःखरूप प्रतीत होता है। इससे पता लगता है कि मिष्टान्नमें सुख नहीं है। हमें भूख लगी थी, भोजनरूपी विषयकी बड़ी चाह थी। जब वह विषय मिला, तब थोड़े समयके लिये—दूसरे अभावकी भावना न होनेतक चित्त स्थिर हुआ, उस स्थिरचित्तरूपी दर्पणपर सुख-स्वरूप आत्माकी झलकका प्रतिबिम्ब पड़ा, सुखका आभास हुआ। हमने भ्रमसे मान लिया कि यह सुख हमें विषयसे मिला है।

इसके सिवा एक बात यह भी विचारणीय है कि यदि विषय सुखरूप है तो एक ही विषय भिन्न भिन्न प्रकृतिके मनुष्योंमें किसीको

सुखरूप और किसीको दुःखरूप क्यों भासता है? एक राजाने किसी शत्रु-राज्यपर विजय प्राप्त की। इससे उसके प्रेमियोंको सुख और विरोधियोंको दुःख होता है। विषयकी एकतामें भी सुख-दुःखके बोधमें तारतम्यता है। यही विषय-सुखका स्वरूप है। इससे यह सिद्ध होता है कि हमने भ्रमसे ही विषयोंमें सुखकी कल्पना कर रक्खी है वास्तवमें माया-मरीचिकाकी भांति इनमें सुख है ही नहीं। इसप्रकारके विचारोंसे सुखका बाध हो जाता है। अब रहा विषयप्रेम!

विषयोंमें प्रेमका बाध

हम कह सकते हैं कि पुत्र-कलत्र-मित्रादिमें रमणीयता और सुख तो नहीं है, परन्तु प्रेम तो प्रत्यक्ष ही दीखता है। इसपर भी विचार करनेसे पता लगता है कि विषयोंमें वास्तवमें प्रेम भी नहीं है। स्वार्थ ही प्रेमके रूपमें प्रकाशित हो रहा है। गुरु नानकने क्या अच्छा कहा है—

जगतमें झूठी देखी प्रीत।
अपने ही सुखसों सब लागे, क्या दारा क्या मीत॥
मेरो मेरो सभी कहत हैं, हितसों बाँध्यो चीत।
अन्तकाल संगी नहिं कोऊ, यह अचरजकी रीत॥
मन मूरख अजहूँ नहिं समुझत, सिख दै हारयो नीत।
'नानक' भव-जल-पार परै, जो गावै प्रभुके गीत॥

मान लीजिये घरमें आग लग गयी, गहने कपड़े नोट गिन्नी और स्त्री-पुत्रादिसहित हम घरमें सोये हैं। इतनेमें आंखें खुलीं, अग्निकी

ज्वाला देखते ही घबराकर अपनेको बचाते हुए हम गहने,कपड़े, रुपये-गिन्नी बटोरने और स्त्री-पुत्रादिको बचानेके लिये चिल्लाहट मचाने और चेष्टा करने लगे। आग बढ़ी,लपटें हमारी ओर आने लगीं। हम घबराकर सब कुछ वहीं पटक बाहर भाग निकले। प्यारे स्त्री-पुत्रादि अन्दर ही रह गये। बाहर निकलकर अपनी जान बचाकर हम उन्हें निकालनेके लिये चिल्लाते हैं पर अन्दर नहीं जाते। यदि उनमें यथार्थ प्रेम होता तो क्या उन्हें बचानेके लिये प्राणोंकी आहुति सहर्ष न देदी जाती? इससे सिद्ध होता है कि हमारा उनसे वास्तवमें प्रेमका नहीं, स्वार्थका सम्बन्ध है। जबतक स्वार्थमें बाधा नहीं पड़ती, तभीतक प्रेमका बर्ताव रहता है। कहा है—

जगतमें स्वारथके सब मीत।
जब लगि जासों रहत स्वार्थ कछु, तब लगि तासों प्रीत॥

स्वार्थमें बाधा पड़ते ही बनावटी प्रेमके कच्चे सूतका धागा तत्काल ही टूट जाता है। हम जो स्त्री-पुत्र-धनादिके वियोगमें रोते हैं, सो अपने ही स्वार्थमें बाधा पहुंचते देखकर रोते हैं। यहांपर यह प्रश्न होता है कि, तब, जो लोग देशके लिये प्राण विसर्जन कर देते हैं उनमें तो वास्तविक प्रेम है न? अवश्य ही उनके प्रेमका विकास हुआ है, वे लोग उन क्षुद्र-स्वार्थी मनुष्योंकी अपेक्षा बहुत उच्च श्रेणीके हैं तथापि उनकी भी यह चेष्टा वास्तवमें आत्मसुखके लिये ही है। इससे यह नहीं मान लेना चाहिये कि ऐसी चेष्टा किसीको नहीं करनी चाहिये। इस प्रकारकी चेष्टाएं तो अवश्य ही करनी चाहिये। परन्तु

यह याद रखना चाहिये कि इन चेष्टाओंके होनेमें भी कारण वैराग्य ही है। अपने शरीर-सम्बन्धी क्षुद्र स्वार्थोंसे विराग न होता तो प्रेमका विकास कभी सम्भव नहीं था। यह सब होनेपर भी उन लोगोंका कुटुम्ब, जाति या देशसे यथार्थ प्रेम सिद्ध नहीं होता; इहलौकिक या पारलौकिक सुख, कीर्ति या पदगौरवजन्य आत्मसुखाभिलाषाका ही प्रायः इसमें प्रधान उद्देश्य रहता है। वास्तवमें हम अपने ही लिये सबसे प्रेम करते हैं।

हम अपने शरीरसे भी अपने ही सुखके लिये प्रेम करते हैं। जब शरीरसे सुखमें बाधा पहुंचती है, तब उसको भी छोड़ देना चाहते हैं। अत्यन्त कष्टजनक रोगसे पीड़ित होने या अपमानित और पददलित होनेपर शरीरके नाशकी कामना या चेष्टा करना इसी बातको सिद्ध करता है कि हमारा शरीरसे प्रेम नहीं है। प्रेम तो प्रेम-की वस्तुमें ही होता है। प्रेमकी वस्तु है एकमात्र आत्मा। जगत्से भी उसी अवस्थामें असली प्रेम हो सकता है जब कि हम जगत्को अपना आत्मा मान लेते हैं। इसीलिये बृहदारण्यक श्रुतिमें कहा है—'न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति'। इत्यादि।

यही भाव हमारे प्रति भी और सबका समझना चाहिये। इस-प्रकारके विचारोंसे विषय-प्रेमका बाध करनेपर अब एक बात शेष रह जाती है—विषयोंकी सत्ताका बाध।

विषयोंकी सत्ताका बाध

मान लिया कि विषयोंमें रमणीयता, सुख और प्रेम नहीं है, परन्तु विषयोंकी सत्ता तो माननी ही पड़ेगी। सत्ता न होती तो देखना, सूंघना, स्पर्श करना, बोलना, सुनना आदि सब क्रियाएँ प्रत्यक्ष क्योंकर हो सकती हैं ? इसपर यह कहा जा सकता है कि जब रज्जुमें सर्प दीखता है, उस समय क्या उस कल्पित सर्पमें सत्य सर्पबुद्धि नहीं होती ? क्या उस समय वह रस्सी ही प्रतीत होती है? यदि रस्सी ही प्रतीत होती है तो उससे डरने या काँपनेका कोई कारण नहीं है। गोसाईंजी महाराजने इस विषयको एक पदमें बड़ी अच्छी तरह समझाया है—

हे हरि ! यह भ्रमकी अधिकाई।
देखत, सुनत, कहत, समुझत संसय-सन्देह न जाई ॥
जो जग मृषा ताप-त्रय अनुभव होइ कहहु केहि लेखे।
कहि न जाइ मृग-बारि सत्य, भ्रमतें दुख होइ बिसेखे ॥
सुभग सेज सोवत सपने, बारिधि बूड़त भय लागै।
कोटिहु नाव न पार पाव सो, जब लगि आपु न जागै ॥
अनबिचार रमनीय सदा संसार भयङ्कर भारी।
सम-सन्तोष-दया-बिवेकतें ब्यवहारी सुखकारी ॥
'तुलसिदास' सब बिधि प्रपंच जग जदपि झूठ स्रुति गावै।
रघुपति-भगति संत-संगति बिनु, को भव-त्रास नसावै ॥

स्वप्नमें समुद्रमें डूबता हुआ मनुष्य, जबतक स्वयं नहीं जाग जाता, तबतक बाहरकी करोड़ों नावोंद्वारा भी वह डूबनेसे नहीं बच सकता । यद्यपि पलंगपर सोये हुएके पास समुद्र नहीं है, पर स्वप्नकालमें तो उसे वह सर्वथा सत्य ही प्रतीत होता है, इसीप्रकार यह संसार सत्तारहित होनेपर भी अविद्यासे सत् भासता है ।

भरम परा तिहुँ लोकमें, भरम बसा सब ठाँव ।
कहै कबीर पुकारिकै, बसे भरमके गाँव ॥

इन विचारोंसे सत्ताका बाध करना पड़ता है । परन्तु जगत्की सत्ताका बाध करना कहनेमें जितना सुगम है, करनेमें उतना ही कठिन है । बड़ी साधनाका यह परिणाम होता है । इसके लिये बड़े भारी विवेककी आवश्यकता है । जहांतक यह न हो, वहांतक विषयोंमें रमणीयता, सुख और प्रेमबोधका बाध करते रहना चाहिये । यही वैराग्य है ।

वैराग्य बिना परमार्थ नहीं

जो लोग बिना वैराग्यके परमार्थ-वस्तुकी प्राप्ति करना चाहते हैं, वे मानों आकाशमें निराधार दीवार उठानेका व्यर्थ प्रयास करते हैं । अतएव वैराग्यकी भावना सदा ही साधकको जाग्रत रखनी चाहिये । विचारना चाहिये कि जगत्का कोई भी पदार्थ नित्य नहीं है । धन-वैभव, विद्या-बुद्धि, तेज-प्रभाव, गुण-गौरव, बल-रूप, यौवन-श्री आदि सभी वस्तुएं मृत्युके साथ ही हमारे लिये धूलमें

मिल जाती हैं। आज हम अपने धनके सामने जगत्‌के लोगों-- अपने ही भाइयोंको तुच्छ समझते हैं। ऊंची जाति या विद्याके कारण दूसरोंको नगण्य मानते हैं। नेतृत्वमें अपना कोई प्रतिद्वन्दी नहीं रखते। व्याख्यानों और लेखोंसे लोगोंको चमत्कृत कर देते हैं। नीति और चतुराईमें बड़े बड़े राजनीतिज्ञोंसे भी अपनेको बड़ा मानते हैं। दानमें कर्णकी समताका दम भरते हैं। बलमें भीम कहलाना चाहते हैं। यशस्वितामें अपनी बराबरीका किसीको भी देखना नहीं चाहते। शरीर मन बुद्धिपर बड़ा अभिमान है, पर यह खयाल नहीं करते कि इस कच्चे घड़ेको फूटते तनिकसी देर भी नहीं लगेगी। जहां यह तनका घड़ा फूटा कि सब खेल ख़तम हो गया। फिर इस देहकी दशा यह होती है--

जारे देह भस्म ह्वै जाई, गाड़े माटी खाई।
काँचे कुम्भ उदक ज्यों भरिया, तनकी यही बड़ाई॥

--कबीर

पानीका बुद्‌बुदा उठा और मिट गया, यही इस शरीरकी स्थिति है--

पानी केरा बुद्‌बुदा, अस मानुसकी जाति।
देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभात॥

-- कबीर

इसीलिये कबीरजीने चेतावनी देते हुए कहा है--

कबीर नौबत आपनी, दिन दस लेहु बजाय।
यह पुरपट्टन यह गली, बहुरि न देखौ आय॥

सातों नौवत बाजती, होत छतीसों राग ।
सो मन्दिर खाली पड़े, बैठन लागे काग ॥
आजकालके बीचमें, जंगल होगा वास ।
ऊपर ऊपर हल फिरैं, ढोर चरेंगे घास ॥
हाड़ जलै ज्यों लाकड़ी, केस जलै ज्यों घास ।
सब जग जलता देखकर, भये कबीर उदास ॥
झूठे सुखको सुख कहैं, मानत हैं मनमोद ।
जगत चबेना कालका, कछु मुख महँ कछु गोद ॥
हाँकै परबत फाटते, समँदर घूँट भराय ।
ते मुनिवर धरती गले, क्या कोइ गरब कराय ॥
माली आवत देखके, कलियाँ करैं पुकार ।
फूली फूली चुनि लई, कालि हमारी बार ॥
माटी कहै कुम्हार ते, तूँ क्यों रूँधै मोहिं ।
एक दिन ऐसा होयगा, मैं रूँधोंगी तोहिं ॥
मरेंगे मरि जायँगे, कोइ न लेगा नाम ।
ऊजड़ जाय बसायँगे, छाँड़ बसंता गाम ॥
आसपास योधा खड़े, सबी बजावैं गाल ।
माँझ महलसे ले चला, ऐसा काल कराल ॥

जीवनकी यह दशा है । इसलिये चार दिनकी चाँदनीपर इतराना छोड़कर विषयोंसे मन हटाना चाहिये । कबीरजीका एक भजन और याद रखिये—

हमकों ओढ़ावै चदरिया, चलती विरियाँ॥
प्रान राम जब निकसन लागे,
उलट गई दोउ नैन पुतरिया॥
भीतरसे बाहर जब लावै,
छूट गई सब महल अटरिया॥
चार जने मिलि खाट उठाइन,
रोवत लै चले डगर-डगरिया॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो,
संग चली वह सूखी लकरिया॥

विषयोंमें वैराग्य हुए बिना ईश्वरमें अनुराग नहीं हो सकता। ईश्वरानुराग बिना आनन्दकी प्राप्ति असम्भव है। अनित्य, परिवर्तनशील और क्षणभंगुर विषयोंमें आनन्दकी कोई सम्भावना नहीं!

बाहरी त्यागका नाम विषय त्याग नहीं है–

उपर्युक्त विवेचनके अनुसार मनुष्यको विषयोंका परित्याग करनेके लिये सदा सचेष्ट रहना चाहिये। अवश्य ही केवल घरबार, मातापिता, स्त्री-पुत्रादिको त्यागकर जङ्गलमें चले जानेका नाम विषय-त्याग नहीं है। विषयासक्तिका त्याग ही वास्तविक विषय-त्याग है। जबतक आसक्ति है, तबतक गृहादि त्यागसे कोई खास लाभ नहीं होता। आसक्ति अविद्याजनित मोहसे होती है। जहांतक बुद्धि मोहसे ढकी हुई है, वहांतक विषयोंसे वास्तविक वैराग्य नहीं हो सकता। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है–

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥
(गीता २। ५२)

हे अर्जुन! जब तेरी बुद्धि मोहरूपी दलदलसे निकल जायगी तभी तू सुने हुए और सुने जानेवाले सब विषयोंसे वैराग्यको प्राप्त होगा। इस मोहको हटानेका ही प्रयत्न करना चाहिये। जबतक मनसे विषयोंकी अनुरक्ति दूर नहीं होती तबतक केवल बाहरी त्यागद्वारा मनसे यह मोह कभी दूर नहीं होता।

दाढ़ी मूँछ मुँड़ाइकै, हुआ जु घोटमघोट।
मनको क्यों मूँड़ा नहीं, जामें भरिया खोट॥

अतएव—

तस्मात्तं साधनं नित्यमन्वेष्टव्यं मुमुक्षुभिः।
यतो मायाविलासाद्वै निर्वृतं परमश्नुते॥

मुमुक्षु पुरुषको मनका मोह दूर करनेवाले उस यथार्थ वैराग्यसाधनका नित्य अभ्यास करना चाहिये, जिससे मायाके कार्य इस नश्वर जगत्से सहज ही छुटकारा मिल सके।

एक लालसा

जीवनका परम ध्येय स्थिर हो जानेपर जब उसके अतिरिक्त अन्य सभी लौकिक पारलौकिक पदार्थोंके प्रति वैराग्य हो जाता है, तब साधकके हृदयमें कुछ दैवी भावोंका विकास होता है। उसका अन्त:करण शुद्ध सात्त्विक बनता जाता है। इन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं, मन विषयोंसे हटकर परमात्मामें एकाग्र होता है, सुख-दुःख, शीतोष्णका सहन सहजहीमें हो जाता है, संसारके कार्योंसे उपरामता होने लगती है, परमात्मा और उसकी प्राप्तिके साधनोंमें तथा सन्त-शास्त्रोंकी वाणीमें परम श्रद्धा हो जाती है, परमात्माको छोड़कर दूसरे किसी पदार्थसे मेरी तृप्ति होगी या मुझे परमसुख मिलेगा, यह शंका सर्वथा मिटकर चित्तका समाधान हो जाता है। फिर उसे एक परमात्माके सिवा अन्य कुछ भी अच्छा नहीं लगता, उसकी सारी क्रियाएं केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये होती हैं। वह सब कुछ छोड़कर एक परमात्माको ही चाहता है। इसीका नाम मुमुक्षा या शुभेच्छा है। मुमुक्षा तो इससे पहले भी जाग्रत् हो सकती है परन्तु वह प्रायः अत्यन्त तीव्र नहीं होती। ध्येयका निश्चय, वैराग्य, सात्त्विक सम्पत्ति आदिकी प्राप्तिके बाद जो मुमुक्षुत्व होता है वही अत्यन्त तीव्र हुआ करता है। भगवान्

श्रीशङ्कराचार्यने मुमुक्षुत्वके तीव्र, मध्यम, मन्द और अतिमन्द ये चार भेद बतलाये हैं। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक भेदसे त्रिविध[1] होनेपर भी प्रकार-भेदसे अनेकरूप दुःखोंके द्वारा सर्वदा पीड़ित और व्याकुल होकर जिस अवस्थामें साधक विवेकपूर्वक परिग्रहमात्रको ही अनर्थकारी समझकर त्याग देता है, उसको तीव्र मुमुक्षा कहते हैं। त्रिविध तापका अनुभव करने और सत्—परमार्थ वस्तुको विवेकसे जाननेके बाद, मोक्षके लिये भोगोंका त्याग करनेकी इच्छा होनेपर भी संसारमें रहना उचित है या त्याग देना, इस प्रकारके संशयमें झूलनेको मध्यम मुमुक्षा कहते हैं। मोक्षके लिये इच्छा होनेपर भी यह समझना कि अभी बहुत समय है, इतनी जल्दी क्या पड़ी है, संसारके कामोंको कर लें, भोग भोग लें, आगे चलकर मुक्तिके लिये भी उपाय कर लेंगे। इस प्रकारकी बुद्धिको मन्द मुमुक्षा कहते हैं और जैसे किसी राह चलते मनुष्यको अकस्मात् रास्तेमें बहुमूल्य मणि पड़ी दिखायी दी और उसने उसको उठा लिया, वैसे ही संसारके सुख-भोग भोगते भोगते ही भाग्यवश कभी मोक्ष मिल जायगा तो मणि पानेवाले मुसाफिरकी भांति मैं भी धन्य हो जाऊंगा। इस प्रकारके मूढ़-मतिवालोंकी

---

[1] अनेक प्रकारके मानसिक और शारीरिक रोग आदिसे होनेवाले दुःखोंको आध्यात्मिक; अनावृष्टि, अतिवृष्टि, वज्रपात, भूकम्प, दैव-दुर्घटना आदिसे होनेवाले दुःखोंको आधिदैविक और दूसरे मनुष्यों या भूतप्राणियोंसे प्राप्त होनेवाले दुःखोंको आधिभौतिक कहते हैं।

बुद्धिको अतिमन्द मुमुक्षा कहते हैं। बहुजन्मव्यापी तपस्या और श्रीभगवान्‌की उपासनाके प्रभावसे हृदयके सारे पाप नष्ट होनेपर भगवान्‌की प्राप्तिके लिये तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है। तीव्र इच्छा उत्पन्न होनेपर मनुष्यको इसी जीवनमें भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है—'यस्तु तीव्रमुमुक्षुः स्यात् स जीवन्नेव मुच्यते।' इस तीव्र शुभेच्छाके उदय होनेपर उसे दूसरी कोई भी बात नहीं सुहाती, जिस उपायसे उसे अपने प्यारेका मिलन सम्भव दीखता है, वह लोक-परलोक किसीकी कुछ भी परवा न कर उसी उपायमें लग जाता है। प्रिय-मिलनकी उत्कण्ठा उसे उन्मत्त बना देती है। प्रियकी प्राप्तिके लिये वह तन-मन-धन, धर्म-कर्म सभीका उत्सर्ग करनेको प्रस्तुत रहता है। प्रियतमकी तुलनामें, उसकी दृष्टिसे सभी कुछ तुच्छ हो जाता है, वह अपने आपको प्रिय-मिलनेच्छापर न्योछावर कर डालता है। ऐसे भक्तोंका वर्णन करते हुए सत्पुरुष कहते हैं—

प्रियतमसे मिलनेको जिसके प्राण कर रहे हाहाकार।
गिनता नहीं मार्गकी, कुछ भी, दूरीको, वह किसी प्रकार॥
नहीं ताकता, किञ्चित् भी, शत-शत बाधा-विघ्नोंकी ओर।
दौड़ छूटता जहाँ बजाते मधुर-वंशरी नन्दकिशोर॥

—भूपेन्द्रनाथ संन्याल

प्रियतमके लिये प्राणोंको तो हथेलीपर लिये घूमते हैं ऐसे प्रेमी साधक! उनके प्राणोंकी सम्पूर्ण व्याकुलता; अनादिकालसे लेकर

अबतककी समस्त इच्छाएं उस एक ही प्रियतमको अपना लक्ष्य बना लेती हैं। प्रियतमको शीघ्र पानेके लिये उनके प्राण उड़ने लगते हैं। एक सज्जनने कहा है कि 'जैसे बाँधके टूट जानेपर जलप्लावनका प्रवाह बड़े वेगसे बहकर सारे प्रान्तके गाँवोंको बहा ले जाता है, वैसे ही विषय-तृष्णाका बाँध टूट जानेपर प्राणोंमें भगवत्प्रेमके जिस प्रबल उन्मत्त वेगका सञ्चार होता है, वह सारे बन्धनोंको जोरसे तत्काल ही तोड़ डालता है। प्रणयीके अभिसारमें दौड़नेवाली प्रणयिनीकी तरह उसे रोकनेमें किसी भी सांसारिक प्रलोभनकी प्रबल शक्ति समर्थ नहीं होती, उस समय वह होता है अनन्तका यात्री—अनन्त परमानन्द-सिन्धु-संगमका पूर्ण प्रयासी !' घर-परिवार सबका मोह छोड़कर, सब ओरसे मन मोड़कर वह कहता है—

बन बन फिरना बेहतर हमको रतन-भवन नहिं भावै है।
लता तले पड़ रहनेमें सुख नाहिंन सेज सुहावै है॥
सोना कर धर शीस भला अति, तकिया ख्याल न आवै है।
'ललितकिशोरी' नाम हरीका जपि-जपि मन सचु पावै है॥
अब विलम्ब जनि करो लाड़िली कृपा-दृष्टि टुक हेरो।
जमुना-पुलिन गलिन गहवरकी बिचरूँ साँझ-सवेरो॥
निसिदिन निरखौं जुगुल-माधुरी रसिकनते भट-भेरो।
'ललितकिशोरी' तन-मन आकुल श्रीवन चहत बसेरो॥
—ललितकिशोरी

एक नन्दनन्दन प्यारे व्रजचन्दकी झांकी निरखनेके सिवा

उसके मनमें फिर कोई लालसा ही नहीं रह जाती, वह अधीर होकर अपनी लालसा प्रकट करता है—

एक लालसा मनमहँ धारूँ ।
वंशीवट, कालिन्दी-तट नट-नागर नित्य निहारूँ ॥
मुरली-तान मनोहर सुनि सुनि तनु-सुधि सकल बिसारूँ ।
छिन-छिन निरखि झलक अँग-अंगनि पुलकित तन-मन वारूँ ॥
रिझऊँ श्याम मनाइ; गाइ गुन, गुंज-माल गल डारूँ ॥
परमानन्द भूलि सगरौ, जग श्याम हि श्याम पुकारूँ ॥

——अकिञ्चन

बस, यही तीव्रतम शुभेच्छा है !

साधनके विघ्न

वास्तविक शुभेच्छा उत्पन्न होनेके बाद तो प्रायः वह कभी मन्द नहीं पड़ती, परन्तु आरम्भमें साधकके मार्गमें अनेक विघ्न आया करते हैं। अतः उन विघ्नोंसे बचनेके लिये निरन्तर सचेष्ट रहना चाहिये।

स्वास्थ्यका अभाव

सबसे पहला विघ्न है स्वास्थ्यका बिगड़ जाना। अतएव, साधकको स्वास्थ्यरक्षाके लिये संयम और नियमित खान-पान करना चाहिये। स्वास्थ्य जबतक ठीक रहता है तभीतक मनुष्य साधन कर सकता है। रोगपीड़ित शरीरसे साधन बनना प्रायः असम्भव है। अवश्य ही स्वास्थ्य बनाये रखनेका लक्ष्य भोगविलास नहीं, ईश्वरप्राप्ति ही होना चाहिये। परन्तु यह भी याद रखना चाहिये कि ईश्वरप्राप्ति साधन बिना नहीं हो सकती और साधन करनेके लिये स्वस्थ शरीरकी आवश्यकता है। इसलिये सोने, काम करने, खाने-पीने आदिके ऐसे नियम रखने चाहिये जिनसे शरीरका स्वस्थ रहना सम्भव हो। प्रकृति-सेवन, नियमित व्यायाम और आसनोंसे स्वास्थ्यको बड़ा लाभ पहुंचता है।

खान-पानमें असंयम

दूसरा विघ्न आहारकी अशुद्धि और असंयम है। बहुधा खानपानके असंयमसे ही स्वास्थ्य बिगड़ता है। इतना ही नहीं, इससे मानसिक रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं। इसीलिये हमारे शास्त्रकारोंने आहार-शुद्धिपर बड़ा ज़ोर दिया है। अन्नके अनुसार ही मन बनता है। मनुष्य जिस प्रकारका भोजन करता है उसके भाव, विचार, बुद्धि और स्फुरणाएँ प्रायः वैसी ही होती हैं। जो लोग मांस, मद्य आदि तामसिक पदार्थोंका सेवन करते हैं, उनमें निष्ठुरता, क्रूरता और निर्दयता अधिक देखनेमें आती है। प्राणियोंकी अकारण हिंसामें भी सच्चे हृदयसे उनको दुःख नहीं होता। तामसी-राजसी आहारसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, अभिमान, मत्सर आदि दोष उत्पन्न होकर साधकके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यको बिगाड़ देते हैं, जिससे वह साधन-पथसे गिर जाता है। अधिक मिर्चवाला, अधिक नमकीन, अधिक खट्टा, अधिक तीखा, अधिक कड़वा, गरमागरम, अत्यन्त रूखा आहार राजसी तथा बासी, सड़ा हुआ, जूंठा, अपवित्र दुर्गन्धयुक्त आदि आहार तामसी माना गया है। बन पड़े जहांतक साधकको मसालोंका व्यवहार छोड़ देना चाहिये। अधिक घी और मीठेकी भी आवश्यकता नहीं है। दही नहीं खाना चाहिये। मादक द्रव्योंका सेवन बिल्कुल नहीं करना चाहिये। जिस आहारमें बहुत अधिक खर्च

पड़ता हो, वह आहार भी साधकके लिये उपयुक्त नहीं है, चाहे वह धनी हो या ग़रीब। धनी यदि आहारमें बहुत ज्यादा ख़र्च करता है तो उसके लिये तो वह प्रमाद है ही, परन्तु गरीबोंपर भी उसका बुरा प्रभाव पड़ता है। देखादेखी उनका भी मन ललचाता है। उनके पास पैसे होते नहीं, इन्द्रियां ज़ोर देती हैं अतएव उन्हें बहुमूल्य आहारके लिये अन्यायसे चोरी आदि करके धन कमानेमें प्रवृत्त होना पड़ता है। जो धन अन्यायसे कमाया हुआ है, उस धनके अन्नका मनपर बहुत बुरा असर पड़ता है। इसीलिये आहारशुद्धिमें जातिकी अपेक्षा न्याय और धर्मसे उपार्जित अन्नका महत्त्व अधिक है। चोर, दूसरोंकी गाँठ काटनेवाले, छली-कपटी घूसखोर, व्यभिचारी और अन्यायी ऊँची जातिवाले पुरुषकी अपेक्षा सत्यपरायण, सत् कमाई करने-वाले, इन्द्रिय-जयी, न्यायी, सरल शूद्रका अन्न शुद्ध और पवित्र है क्योंकि उससे बुद्धिकी वृत्तियां नहीं बिगड़तीं। यथासम्भव आहार अल्प करना अच्छा है।

सन्देह

तीसरा विघ्न है साधनमें सन्देह। मनुष्य एक बार किसीके कहनेसे साधनमें लगता है पर साधन आरम्भ करते ही उसे सिद्धि नहीं मिल जाती, इससे वह अपने साधनमें सन्देह करने लगता है। यह सन्देह बहुत अच्छे श्रद्धालु पुरुषोंको भी प्रायः हो जाया

करता है। उसकी बुद्धिमें समय समय यह भावना होती है कि 'न मालूम ईश्वर हैं या नहीं, हैं तो मुझे मिलेंगे या नहीं, मैं जो साधन करता हूं सो ठीक है या नहीं। ठीक होता तो अवतक मुझे लाभ अवश्य होता, हो-न-हो साधनमें कोई गड़बड़ है।' इस तरहके विचारोंसे उसका साधन शिथिल पड़ जाता है। साधनकी शिथिलतासे लाभ और भी कम होता है जिससे उसका सन्देह भी और बढ़ने लगता है। यों होते होते अन्तमें वह साधनसे च्युत हो जाता है। साधकको अपने साधनपर श्रद्धा और विश्वास रखकर उसे करते ही रहना चाहिये। जैसे कई तरहकी बीमारियोंमें फँसे हुए मनुष्यको औषधसेवनसे किसी एक बीमारीके नष्ट हो जानेपर भी लाभ नहीं मालूम होता, इसी प्रकार मलसे पूर्ण अन्तःकरणमें तनिकसे मलका नष्ट होना दीखता नहीं, परन्तु यह निश्चय रखना चाहिये कि सच्चे साधनसे लाभ अवश्य होता है, साधनमें मनुष्य जितना आगे बढ़ेगा, उतना ही उसे लाभ अधिक प्रतीत होगा। फिर उसे इस बातका पता लग जायगा कि भगवत्-सम्बन्धी बातें केवल कल्पना नहीं, परन्तु ध्रुव सत्य हैं।

सद्गुरुका अभाव

ऐसे यथार्थ साधनमें प्रवृत्त होने और रहनेके लिये सद्गुरुकी आवश्यकता है। सद्गुरुका अभाव ही सच्चे साधनसे साधकको अपरिचित रखता है और इसीसे वह श्रद्धारहित होकर साधन छोड़

देता है। यह विषय बहुत ही विचारणीय है क्योंकि वर्तमानकालमें सच्चे त्यागी अनुभवी सद्गुरुओंकी बहुत कमी हो गयी है। यों तो आजकल गुरुओंकी संख्या बहुत बढ़ गयी है, जिधर देखिये, उधर ही गुरु और उपदेशकोंकी भरमार है। परन्तु इन गुरुओंके समुदायमें अधिकांश दम्भी, दुराचारी, परधन और परस्त्री-कामी, नाम चाहनेवाले, पूजा करानेवाले, बिना ही साधनके अपनेको अनन्य भक्त, परम ज्ञानी यहांतक कि ईश्वरतक बतलानेवाले कपटी पाये जाते हैं। इसीसे सच्चे उपदेशकोंका भी आज कोई मूल्य नहीं रहा। ऐसी स्थितिमें सद्गुरुका चुनाव करना बड़ा कठिन है। तथापि मामूली कसौटी यही समझनी चाहिये कि जो पुरुष किसी भी हेतुसे धन नहीं चाहता और किसी भी कारणसे स्त्री या स्त्री-संगियोंका संग करना नहीं चाहता, जिसका व्यवहार सरल और सीधा है और जिसके उपदेशोंके अनुसार कार्य करनेसे वास्तविक लाभ होता नज़र आता है, ऐसे निःस्वार्थी पुरुषके बतलाये हुए मार्गसे चलनेमें कोई बाधा नहीं है। धन-स्त्री, मन्त्र-यन्त्र, भूत-प्रेत और चमत्कार आदिकी बातें करने, चाहने, समझाने और प्रचार करनेवाले पुरुषों-से दूर रहना अच्छा है। परन्तु किसी अच्छे पुरुषको पाकर उसके बतलाये हुए साधनको छोड़ना भी नहीं चाहिये। जहांतक उसमें कोई भारी दोष न दीखे, वहांतक उसपर सन्देह न करके साधनमें लगे रहना चाहिये। नित नये गुरु बदलनेसे साधनमें बड़ी गड़बड़ी मच जाती है। क्योंकि अच्छे पुरुष भी भिन्न भिन्न मार्गोंसे साधन करने-

वाले होते हैं, लक्ष्य एक होनेपर भी मार्ग अनेक होते हैं। आज एकके कहनेसे प्राणायाम शुरू किया, कल दूसरेकी बात सुनकर हठयोग साधने लगे, परसों तीसरेके उपदेशसे नाम-जप आरम्भ किया, चौथे दिन चौथेके व्याख्यानके प्रभावसे वेदान्तका विचार करने लगे, इस तरह जगह जगह भटकने और बात-बातमें साधन बदलते रहनेसे कोई-सा साधन भी सिद्ध नहीं होता। इसीलिये साधनमें सद्गुरुकी आज्ञानुसार एकनिष्ठा और नियमानुवर्तिताकी बड़ी आवश्यकता है।

नियमानुवर्तिताका अभाव

नियत समयपर सोना, उठना, भोजन करना मनके एकाग्र होनेमें बड़े सहायक होते हैं। नियमानुवर्तिताका अभाव साधनमें एक भारी विघ्न है। कोई नियम न रहनेसे दिनचर्यामें बड़ी गड़बड़ी रहती है। जीवन भी इसी तरह गड़बड़ीमें बीतता है। दिनरातके चौबीस घण्टोंमें कमसे कम तीन घण्टेका नियत समय ईश्वरचिन्तन और ध्यानके लिये अलग रखना चाहिये। किसी अड़चनवश एक साथ लगातार इतना समय न मिलता हो तो प्रातःकाल और सायंकाल दोनों समय मिलकर समय निकालना चाहिये, परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि समय, स्थान, आसन और प्रणालीमें सहसा परिवर्तन न किया जाय।

प्रसिद्धि

साधनमें एक बड़ा भारी विघ्न 'साधककी प्रसिद्धि' होता

है। जब लोग जान जाते हैं कि अमुक मनुष्य साधन करता है, तब उसके प्रति स्वाभाविक ही कुछ लोगोंकी श्रद्धा हो जाती है, जिनकी श्रद्धा होती है वे समय-समयपर मन, वाणी, शरीरसे उसका आदर करने लगते हैं। जिन्हें आदर, मान आदि प्रिय नहीं होते, ऐसे मनुष्य संसारमें सदासे ही बहुत थोड़े हैं। साधक भी मनुष्य है, उसे भी आदर, मान, प्रतिष्ठा आदि प्रिय प्रतीत होते हैं। अतएव ज्यों-ज्यों उसे इनकी प्राप्ति होती है, त्यों-हीं-त्यों उसकी लालसा अधिक लोगोंसे अधिकसे अधिक सम्मान प्राप्त करनेकी होने लगती है। इससे परिणाममें उसका ईश्वरसम्बन्धी साधन सम्मान-प्रतिष्ठा आदि प्राप्त करनेके साधनरूपमें बदल जाता है। जिस कार्य, जैसी बोलचाल, जैसे आचरण और जिस तरहकी कार्य-वाहियोंसे सम्मान मिलता हो, बस, उन्हींको करना उसके जीवनका लक्ष्य बन जाता है। इससे ज्यों ज्यों उसका परमार्थ-साधन घटता और छूटता है त्यों-ही-त्यों उसका तेज, निःस्पृहता, उदासीनभाव, उसकी सरलता, ईश्वरीय श्रद्धा और परमार्थ-साधना नष्ट होती जाती है। उसके हृदयमें लोगोंको रिझाकर उन्हें प्रसन्न करनेके उद्देश्यसे चापलूसी, कामना, पक्षपात, कपट, अश्रद्धा और परमार्थविमुख कार्योंमें प्रवृत्ति आदि गिरानेवाले भावसमूह उत्पन्न हो जाते हैं, जिनसे वह और भी हतप्रभ होकर अपने प्रशंसकोंसे दब जाता है। वे प्रशंसक भी फिर पहले जैसे सच्चे सरल श्रद्धालु नहीं रहते, उनके आदर मान देनेमें भी कपट भर जाता है। शेषमें दोनों ही परमार्थसे

सर्वथा गिरकर पापपंकमें फंस जाते हैं। शुभ कर्म और सदाचरण करने-वालोंके विरोधी तामसी प्रकृतिके मनुष्य भी संसारमें सदासे रहते ही हैं। उनका द्वेष तो पहलेसे रहता ही है, ऐसे समयमें साधक और उसकी मण्डलीको सब प्रकार हीनपुरुषार्थ देखकर उन्हें विशेष मौका मिल जाता है। वे इन्हें छल-बल-कौशलसे और भी गिराने-की चेष्टा करते हैं जिससे परस्पर वैर ठन जाता है। दोनों ओरकी शक्तियां एक दूसरेके छिद्रान्वेषण और उनपर मिथ्या दोषारोपण कर उन्हें नीचा दिखाने और गिरानेमें ही खर्च होने लगती हैं, जिससे जीवन कष्ट और अशान्तिमय बन जाता है। साधकका सत्त्वमुखी हृदय इस समय तमसाच्छादित होकर क्रोध, मोह और दम्भसे भर जाता है। इन सब दोषोंपर विचारकर जहांतक बने, साधक, प्रसिद्ध होनेकी चेष्टा कदापि न करे। अपने साधनको यथासम्भव खूब छिपावे, उपदेशक या आचार्यका पद कभी भूलकर भी ग्रहण न करे, जगत्के लोग उसमें अपनेसे कोई विशेषता न समझें, इसीमें उसका भला है। मतलब यह कि, भजन-साधनको यथासम्भव साधक न तो प्रकट करे और न दिखावे ही। वह लोगोंसे अपनेको श्रेष्ठ भी न समझे, क्योंकि इससे भी अपनेमें अभिमान और दूसरोंके प्रति घृणा उत्पन्न होनेको स्थान रहता है। जो साधक अपने साधनकी स्थितिसे अपनेको ऊँचा समझता या लोगोंमें प्रकट करता है वह तो गिरता ही है, परन्तु वह जितना है, उतना भी प्रकट करनेमें उपर्युक्त प्रकारसे गिरनेका ही भय रहता है। साधककी

भलाई इसीमें है कि वह जितना है, दुनियां उसको सदा उससे कम ही जाने। 'बाहरसे नीचे रहकर अन्दरसे ऊंचा उठ जाना' ही साधकके लिये कल्याणप्रद है।

कुतर्क

साधनमें एक विघ्न है तर्कबुद्धिका विशेष बढ़ जाना। जहां बात बातमें तर्क होता है वहां साधनमें श्रद्धा स्थिर नहीं रहती। श्रद्धाका अभाव स्वाभाविक ही साधनको शिथिल कर देता है। यद्यपि इस दम्भ, कपट-पाखण्ड और बाहरी चमकदमकके युगमें भण्ड, नररूपधारी व्याघ्र गुरुओं, भक्तों और साधु कहलानेवालोंके झुण्डोंसे बचनेके लिये तर्कबुद्धिकी बड़ी आवश्यकता है, परन्तु जब तर्क बढ़कर मनुष्यके हृदयको अत्यन्त सन्देहशील बना देता है तब उसके लिये किसी भी साधनमें मन लगाकर प्रवृत्त रहना अत्यन्त कठिन हो जाता है। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है 'संशयात्मा विनश्यति।' सत्यकी खोजके लिये तर्क करना उचित है पर हठ और अभिमानसे कुतर्कका आश्रय लेना सर्वथा अनुचित है। जो साधक शास्त्र और सद्गुरुके वचनोंमें विश्वास नहीं करता वह सत्यका अन्वेषणकर उसकी प्राप्ति कभी नहीं कर सकता। इसलिये कुतर्कसे सदा बचना चाहिये।

स्त्यान

साधनमें एक विघ्न है स्त्यान यानी चेष्टा छोड़ देना। कुछ दिन साधन करनेपर मनकी ऐसी दशा हुआ करती है। साधारणतः साधक

अनेक प्रकारकी असाधारण आशाओंको लेकर साधनमें लगता है, उसकी वे आशाएं जब थोड़ेसे साधनसे पूरी नहीं होतीं तब वह साधनसे उदासीन होकर चेष्टारहित बन जाता है, मन निकम्मा रहता नहीं, जब यह सत् चेष्टासे हट जाता है तब कुचेष्टा करने लगता है, परिणाममें उसका पतन होजाता है,इससे कभी उत्साहहीन होकर चेष्टा नहीं छोड़नी चाहिये।

अल्पमें सन्तोष

एक विघ्न है साधनमें सन्तोष करना यानी अल्प लाभको ही पूर्णलाभ समझकर साधन छोड़ बैठना। साधनमें लगा हुआ मनुष्य ज्यों ज्यों आगे बढ़ता है त्यों-ही-त्यों उसे विलक्षण आनन्द मिलता है। संसारमें रमे हुए मनुष्य उस आनन्दकी कल्पना भी नहीं कर सकते, साधकने अबसे पहले जिस आनन्दका कभी स्वप्न भी नहीं देखा, वैसा आनन्द—सांसारिक पदार्थोंसे प्राप्त होनेवाले आनन्दसे दूसरी ही तरहका आनन्द पाकर वह अपनेको कृत-कृत्य समझ लेता है। वह इस बातको भूल जाता है कि वह जिस आनन्दधामका पथिक बना है उस परमानन्दका तो यह एक कण-मात्र है। वह जिस स्वर्गीय राजप्रासादमें जा रहा है यह उससे बहुत ही बाहरकी एक छोटी सी कोठरीका कोनामात्र है। इसीलिये वह इस संसारसे विलक्षण आनन्दधामके अपूर्ण आनन्दको पाकर उसीमें रम जाता है, और आगे बढ़नेकी आवश्यकता नहीं समझता। साधकको परमार्थके मार्गमें अनेक विलक्षण लक्षण दीख पड़ते हैं; कोई

शान्तिका महान् शान्त समुद्र देखता है, कोई अपूर्व आनन्दमें मनको डूबा हुआ देखता है; किसीको जगत् अखण्ड आनन्दसे परिपूर्ण होता दीख पड़ता है, किसीको परम ज्योतिके दर्शन होते हैं, कभी कभी अनेक आश्चर्यमय स्वर्गीय स्वर सुनायी देते हैं। कभी अद्भुत आनन्दमय दृश्य (Visions) दिखलायी पड़ते हैं। अवश्य ही ये सब शुभ लक्षण हैं परन्तु इन्हें पूर्ण मानकर सन्तोष नहीं कर लेना चाहिये। थोड़ीसी उन्नति करके भावी उन्नतिके लिये प्रयत्न न करना बहुत बड़ा विघ्न है। रास्तेकी धर्मशालाको ही अपना घर समझकर बैठ रहनेसे घर कभी नहीं मिलता!

कामना

साधनमें एक विघ्न है विषयोंकी कामना। वैराग्यके अभावसे ही यह हुआ करती है। जिस साधकका चित्त विषयकामनाओंसे सर्वथा मुक्त नहीं हो जाता उसके साधनमार्गमें बड़े बड़े विघ्न पड़ जाते हैं, क्योंकि कामना ही क्रमशः क्रोध, मोह, स्मृतिनाश और बुद्धिनाशके रूपमें परिणत होकर साधकका सर्वनाश कर डालती है। इन्द्रिय-विषयोंकी ओर दौड़नेवाले चित्तका निरन्तर भगवदाभिमुखी रहना असम्भव है; अतएव कामनाओंको चित्तसे सदा दूर रखना चाहिये।

ब्रह्मचर्यका अभाव

साधनमें एक विघ्न है ब्रह्मचर्यका पूरा पालन न करना। शरीरके अन्दर ओज हुए बिना साधनमें पूरी सफलता नहीं मिलती। ओज-

के लिये ब्रह्मचर्यकी बड़ी आवश्यकता है। साधक ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ या संन्यासी हो तब तो ब्रह्मचर्यका उसे पूरी तरहसे पालन करना ही चाहिये। कुमारी बहनें और विधवा माताएँ यदि भगवत् सम्बन्धी साधन करती हों तो उनके लिये भी यही बात है। परन्तु विवाहित स्त्री-पुरुषोंको भी परमार्थसाधनके लिये यथासाध्य शीलव्रत पालन करना चाहिये। एक पुत्र होजानेके बाद तो शीलव्रत ले लेनेमें कोई हिचक करनी ही नहीं चाहिये। परन्तु परमार्थके साधकोंको पुत्र न होनेकी भी कोई परवा नहीं करनी चाहिये। मनुष्यशरीर सन्तानोत्पादनके लिये ही नहीं मिला है, यह तो पशुयोनियोंमें भी होता है। इस शरीरसे तो साधन करके परमधन परमात्माको प्राप्त करना है। अतएव सन्तानके लिये भी यथासाध्य शीलव्रतका भंग नहीं करना चाहिये। विवाहित स्त्री पुरुषोंको अवश्य ही शीलव्रत दोनोंकी सम्मतिसे ग्रहण करना चाहिये; अन्यथा और कई तरहकी आपत्तियाँ आनेकी सम्भावना है। जो शीलव्रतका लाभ समझता हो, वही दूसरेको प्रेमसे समझाकर अपने मतके अनुकूल बना ले। तदनन्तर यथासाध्य शीलव्रतका नियम ग्रहण करे। यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि जो जितना ही अधिक ब्रह्मचर्यका पालन करेगा वह उतना ही शीघ्र परमार्थके मार्गमें आगे बढ़ सकेगा।

कुसंगति

एक बहुत बड़ा विघ्न है कुसङ्गति। कुसङ्गमें पड़कर बहुत आगे बढ़े हुए साधकोंका भी पतन देखा जाता है। जो लोग प्रत्यक्षरूपसे

पापमें रत हैं उनका संग तो सर्वथा त्याज्य है ही, परन्तु जो लोग अपनेको सन्त, भक्त, योगी या ज्ञानी प्रसिद्ध करते हों पर जिनमें छलकपट, भोगविलास, धनस्त्रीका अनुराग, परनिन्दा, परचर्चामें प्रेम, गर्व-अभिमान, धूर्तता-पाखण्ड आदि दोष देखनेमें आते हों ,उनका संग भी वास्तवमें कुसङ्ग ही है। क्योंकि जिनमें ये सब दोष होते हैं वे कभी सच्चे सन्त, भक्त, योगी या ज्ञानी नहीं हैं।

कुसङ्गसे ईश्वर, सच्चे धर्म, सदाचार और साधनमें अनादर उत्पन्न होता है। प्रतिदिन यह सुनते रहनेसे, 'क्या रक्खा है सत्संगमें? कहां है ईश्वर? धर्मसे क्या होता है?' इनमें अश्रद्धा हो जाती है। सदा-सर्वदा विषयोंकी बातें होनेसे उनमें अनुराग और परदोषश्रवणसे उन लोगोंके प्रति घृणा और द्वेष जाग उठता है। स्त्री, धन, पुत्र, मान आदिकी कामना उत्पन्न होकर बढ़ने लगती है। कुतर्क बढ़ जाता है। राजस तामस भावोंकी पुष्टि होने लगती है। दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य और अज्ञान आदि आसुरीसम्पत्तिके दोषोंका हृदयमें संचार होने लगता है। स्वार्थपरता और पाखण्ड बढ़ जाते हैं। चित्त अशान्त हो जाता है।

ऐसे मनुष्य जगत्में बहुत ही थोड़े होंगे जिनके मनमें कभी बुरे विचार न उत्पन्न होते हों क्योंकि बुरे संचित प्रायः सभीके रहते हैं। केवल शुभ-संचित ही हों तब तो मनुष्यशरीर ही नहीं मिल सकता। मानवदेह संचित पापपुण्य दोनोंके कारण ही

मिलता है। मनमें विचार संचितसे होते हैं। परन्तु यदि विवेकका वल हो तो बुरे विचारोंके अनुसार कार्य नहीं होता, वे मनमें उत्पन्न होकर वहीं नष्ट हो जाते हैं। पर यदि कुसंगसे उन विचारोंमें कुछ सहायता मिल जाती है तो वे '*तरंगायिता अपीमे संगात् समुद्रायन्ति*।' तरंगकी भांति छोटेसे आकारमें उत्पन्न हुए बुरे विचार समुद्र बन जाते हैं और मनुष्य उनमें निमग्न होकर साधनसे सर्वथा गिर जाता है।

कुसंग केवल मनुष्योंका ही नहीं होता। जिस देश, दृश्य, साहित्य, चित्र, विचार. भाव या वचनोंसे मनमें बुरे भावोंकी उत्पत्ति होती हो वे सभी कुसंग हैं। ऐसे स्थानमें नहीं रहना चाहिये जहांका वातावरण तमोगुणी हो। ऐसे नाटक, खेल, सीनेमा, चित्र या अन्य दृश्य नहीं देखने चाहिये जिनसे मनमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, अभिमान, द्वेष आदि बढ़ते हों। ऐसी पुस्तकें या पत्र आदि कभी नहीं पढ़ने चाहिये, जिनसे बुरे भावों-की मनमें जागृति होती हो। आजकलके अधिकांश समाचार-पत्रोंमें प्रायः परदोपदर्शन, परनिन्दा और विषयलिप्साकी ओर मन लगानेवाले लेख रहते हैं, यथासम्भव इनसे बचना चाहिये। ऐसे विचार या भावोंको सुनना और मनन करना उचित नहीं, जिनसे मनमें कुसंस्कार जमते हों। ऐसे वचनोंका सुनना, बोलना भी त्याग देना चाहिये जिनसे घृणा, द्वेष, वैर, काम, क्रोध लोभादि-की उत्पत्ति और वृद्धि होती हो। कमसे कम परस्त्रीसंगी, प्रमादी,

अकारणद्वेषी, सन्त-साधु-शास्त्रविरोधी, ईश्वरका खण्डन करनेवाले, दम्भी, अभिमानी, परनिन्दापरायण, लोभी, अन्यायकारी, परछिद्रान्वेषी पुरुषोंके संगसे तो साधकको यथासाध्य अवश्य ही बचना चाहिये।

परदोषदर्शन

साधनमें एक विघ्न है परदोषदर्शन। साधकको इस बातसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रखना चाहिये कि 'दूसरे क्या करते हैं।' उसे तो आत्मशुद्धिमें निरन्तर लगे रहना चाहिये। साधकको अपनी साधनाके कार्यसे इतनी फुरसत ही नहीं मिलनी चाहिये जिससे वह दूसरेका एक भी दोष देख सके। जिन लोगोंमें दूसरोंके दोष देखनेकी आदत पड़ जाती है वे साधनपथपर स्थिर रहकर आगे नहीं बढ़ सकते। साधकोंको नारायण स्वामीजीका यह उपदेश सदा याद रखना चाहिये—

> तेरे भावें जो करो, भलो बुरो संसार।
> नारायण तू बैठिके, अपनो भवन बुहार॥

जब दोष दीखते ही नहीं, तब उनकी आलोचना करनेकी तो कोई बात ही नहीं रह जाती। दोष अपने देखने चाहिये और उन्हींको दूर करनेका यथासाध्य पूरा प्रयत्न करना चाहिये।

साम्प्रदायिकता

साधनमें एक बड़ा विघ्न है साम्प्रदायिकता। इससे दूसरोंकी

अच्छी बातें भी अपने सम्प्रदायके अनुकूल न होनेसे बुरी मालूम होने लगती हैं। इसका यह मतलब नहीं कि साधक अपनी गुरु-परम्परा छोड़ दे या सद्गुरुके बतलाये हुए साधनपथपर श्रद्धा-विश्वास रखकर तदनुसार न चले। सद्गुरुकी आज्ञानुसार निर्दिष्ट मार्गपर चलना तो साधकका अवश्य कर्तव्य है, परन्तु साम्प्रदायिक आग्रहवश दूसरोंकी निन्दा करना या दूसरोंको हीन समझना, दूसरोंके साधनमार्ग या ईश्वरकी कल्पनामें दोष दिखाना, उनका खण्डन करना, केवल बाह्य आचारोंको ही मुख्य समझना आदि साधकके लिये कभी उचित नहीं!

साधनके सहायक

विघ्नोंको साहसके साथ हटाते हुए खूब दृढ़तासे साधनमें लगे रहना चाहिये। महर्षि पतञ्जलिने कहा है—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।
(१।१४)

अभ्यास जब दीर्घकालतक निरन्तर आदरके साथ किया जाता है तब वह दृढ़ होता है। इसमें तीन बातें बतलायी हैं। अभ्यास दीर्घकालतक करना चाहिये, निरन्तर करना चाहिये और सत्कार-बुद्धिसे करना चाहिये।

दीर्घकालसाधन

अल्पसाधनसे यथार्थ वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती, जबतक अभीष्ट प्राप्ति न हो तबतक साधन किये ही जाना चाहिये। प्राप्ति हो जानेके बाद भी साधन छोड़नेकी आवश्यकता नहीं, पहले साधन किया जाता है साध्य वस्तुकी प्राप्तिके लिये और सिद्ध हो जानेपर वही साधन स्वाभाविक हो जाता है। जिससे अभीष्ट वस्तु मिलती है, उसे कृतज्ञताके कारण भी छोड़नेको जी नहीं चाहता।

जो लोग थोड़ेसे साधनसे ही बहुत बड़ा फल चाहते हैं, ऐसे जी चुरानेवाले लोगोंको प्रायः परमार्थकी प्राप्ति नहीं होती, इस मार्गमें तो नित-नया उत्साह और नित-नयी उमङ्ग चाहिये। जो आलसी हैं, जरासेमें ही थक जाते हैं, वे इस पथके पथिक नहीं बन सकते। यथार्थ साधक तो बुद्धदेवकी भांति अटलभावसे कहता है-

इहासने शुष्यतु मे शरीरं त्वगस्थिमांसं प्रलयञ्च यातु।
अप्राप्तबोधिं बहुकल्पदुर्लभं नैवासनात् कायः समुच्चलिष्यते॥

इस आसनपर मेरा शरीर सूख जाय, मांस चमड़ी हड्डी नाश हो जायं, परन्तु बहुकल्पदुर्लभ बोध प्राप्त किये बिना इस आसनसे कभी नहीं डिगूंगा।

ऐसा साधक कालकी परवा नहीं करता। कितना ही समय क्यों न लगे, अभीष्ट वस्तुकी उपलब्धि होनी चाहिये।

निरन्तर-साधन

दीर्घकालका यह अर्थ नहीं कि साधन तो बरसोंतक करे परन्तु उसका कोई भी नियम न हो। मनमें आया, फुरसत मिली, कुछ कर लिया, नहीं तो दो चार दिन बाद सही। सच्ची और पूरी लगन होनेपर ऐसा हो ही नहीं सकता। जिसको बड़े जोरकी प्यास लगी होती है उसे जलके सिवा दूसरी वस्तु सुहाती ही नहीं, जबतक उसे जल नहीं मिल जाता, तबतक वह व्याकुल

रहता है और पल-पलमें केवल जलकी ही स्मृति करता है। इसीप्रकार जो परमात्मारूप स्वातीकी बूंदका पिपासु है उस चातकरूप साधकको क्षणभर भी कल नहीं पड़ती, वह तो दिन-रात उस एक ही भावमें विभोर रहता है। उसकी बुद्धिमें अपने साधनको छोड़कर अन्य सब विषयोंमें गौणता आजाती है।

सत्कार और श्रद्धा

इसप्रकार निरन्तर साधनमें लगा हुआ साधक बड़ी सत्कार-बुद्धिसे अपना कार्य करता है। जो साधक बेगारमें पकड़े हुएकी भांति साधन करते हैं या जो बला टालनेके भावसे करते हैं उनकी उस साधनमें आदर-बुद्धि नहीं है, आदर-बुद्धि हुए बिना साधनका पूरा फल नहीं मिलता। जो लोगोंके दिखलानेके लिये या केवल दिल बहलानेके लिये साधन करता है उसकी भी असलमें साधनमें श्रद्धा नहीं है।

श्रद्धालु साधक तो अपने साधनको जीवनका मुख्य कर्तव्य समझकर करता है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह जिस साधनमें लगा हो, उसमें पहले पूर्ण श्रद्धा करे, बिना श्रद्धाके किसी भी कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती। भगवान् गीतामें कहते हैं-

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥

अश्रद्धासे किया हुआ हवन, दान, तप या कोई भी कर्म 'असत्'

कहलाता है; उससे न यहां कोई लाभ होता है और न परलोकमें होता है। श्रद्धा ही साधकका मुख्य बल है। श्रद्धाहीन साधकको पद-पद-पर सन्देह और कुतर्कोंके थपेड़ोंसे घबराकर साधन छोड़नेके लिये बाध्य होना पड़ता है!

एकान्तवास

ज्ञानके साधकके लिये भगवान्‌ने '*विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि*' कहकर एकान्तसेवन करने और मनुष्य-समाजसे अनुराग हटानेकी आज्ञा दी है। साधनको परिपक्व बनानेके लिये एकान्तसेवनकी अत्यन्त आवश्यकता भी है; परन्तु जबतक साधनमें पूरी लगन न हो तबतक सारा कामकाज छोड़कर, अपने ऊपर कोई जिम्मेवारी न रखकर दीर्घकालतक एकान्तसेवन करना अधिकांश साधकोंके लिये प्रायः हानिकर होता है, इसलिये नये साधकको चाहिये कि वह परमात्माका ध्यान या प्रार्थना करनेके लिये पहले चौबीस घण्टेके दिनरातमेंसे एक घण्टा एकान्तसेवन करे। एकान्तमें मनमें प्रमाद-बुद्धि या आलस्य-निद्रा न सतावे तो क्रमशः समय बढ़ाना चाहिये। यथासाध्य सप्ताहमें एक दिन, महीनेमें चार-पांच दिन, सालभरमें एक महीना ऐसा निकालना चाहिये, जो केवल परमार्थके साधन और भगवच्चर्चामें ही बीते। इससे मनको जो सात्त्विक भोजन मिलता है उससे मानसिक स्वास्थ्य ठीक रहनेमें बड़ी सहायता मिलती है।

परन्तु बिना अभ्यासके एकान्तसेवनमें प्रमाद, आलस्य, निद्रा, कुप्रवृत्ति आदि तामसिक दोषोंके वश होनेका बहुत भय रहता है। साधनका अभ्यास न होनेसे समय कटना कठिन हो जाता है और निकम्मे रहनेसे प्रमाद आलस्य उसे फंसा लेते हैं। आजकल बहुतसे साधु-संन्यासियोंमें गांजा भांग आदि पीने, व्यर्थ गप्पें मारने, इधर उधरकी बातें करनेकी जो प्रवृत्ति देखी जाती है उसका प्रधान कारण यही है, कि उनके पास समय बहुत है पर काम नहीं है;इसीसे कुसङ्गतिमें पड़कर वे लोग नानाप्रकारके बुरे व्यसनोंके वश हो जाते हैं। अमीरोंके लड़के ज्यादा इसीलिये बिगड़ते हैं कि उनके पास समय बहुत रहता है परन्तु काम नहीं रहता। समय बितानेके लिये उन्हें व्यर्थके काम करने पड़ते हैं। नहीं तो क्या मनुष्य-जीवनका अमूल्य समय ताश-चौपड़, शतरञ्ज खेलने, व्यर्थकी गप्पें उड़ाने, तीतर-बटेर लड़ाने, परचर्चा करने, दिनभर सोने, प्रमाद करने और पापोंके बटोरनेके लिये थोड़े ही मिला है? अतएव साधकको चाहिये कि एकान्तसेवनकी आवश्यकताको समझकर उसे ईश्वरचिन्तनके अभ्यासके लिये बढ़ाते हुए भी किसी न किसी जिम्मेवारीके कार्यमें अपनेको अवश्य लगाये रक्खे, वह काम परोपकारका हो या घरका हो, ईश्वरार्पित-बुद्धिसे आसक्ति छोड़कर किये जानेवाले सभी सत्कार्य ईश्वर-भजनमें शामिल हैं। काममें लगे रहनेसे मनको व्यर्थ-चिन्तन या प्रमादके लिये समय ही नहीं मिलेगा। अवश्य ही काम करते समय भी ईश्वर-चिन्तनको छोड़ना नहीं चाहिये बल्कि ईश्वर

चिन्तन करते हुए ही काम करना चाहिये। इसीसे भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—'*सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च*' सब समय मुझे स्मरण करता रह और युद्ध भी कर। अपनी जिम्मेवारीके कर्तव्यकर्मको जान बूझकर छोड़े नहीं, पर उसे करे भगवच्चिन्तन करते हुए। पहले भगवच्चिन्तन, पीछे कर्तव्यकर्म। इसप्रकार भगवान्‌में मन लगा कर भगवदर्थ कर्म करनेवालेका उद्धार भगवान् बहुत ही शीघ्र कर देते हैं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२।७)

'हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमियोंका मैं बहुत शीघ्र इस मृत्युरूप संसारसागरसे उद्धार कर देता हूं।' वास्तवमें सच्चा एकान्तसेवन तो मनका एकान्तरूपसे परमात्मामें लग जाना है। इस आन्तरिक एकान्तसेवनकी प्राप्तिके लिये ही बाह्य एकान्तसेवनका अभ्यास किया जाता है।

साधुव्यवहार

साधकको व्यवहारमें सदासर्वदा साधुता रखनी चाहिये। सब प्रकार दुःख-कष्टोंको शान्तिपूर्वक सहना, क्रोधका बदला क्षमासे देना, वैरके बदले प्रेम करना, शापके बदले वरदान देना, बुरा करने-वालेके साथ भलाई करना, अपनेको सबसे छोटा समझना, अपनेमें

किसी वातमें भी वड़प्पनका अभिमान न करना, किसीका दोष न देखना, किसीसे घृणा न करना, किसीके दोषोंकी समालोचना न करना, परस्त्रीमात्रको भगवान्का या माताका रूप समझना, आहार-विहारमें संयम रखना, वहुत कम बोलना, अनावश्यक न वोलना, सदा सत्य और मीठे वचन बोलना, यथासाध्य सबकी यथायोग्य सेवा करनेके लिये तैयार रहना परन्तु अपनेमें सेवकपन-का अभिमान न रखना, अपनेद्वारा की हुई सेवाको परोपकार न समझकर उसे अवश्य कर्तव्य समझना, सेवामें त्रुटियोंका देखना और उन्हें दूर करनेके लिये सचेष्ट रहना, सेवाके लिये किसीपर अहसान न करना, सेवाका कुछ भी वदला न चाहना, दीनताका व्यवहार करना, सवसे नम्र व्यवहार करना, माता, पिता, गुरु आदि अपनेसे वड़े लोगोंको सेवासे सन्तुष्ट रखना, प्रतिष्ठा-मानकी इच्छाका विषके समान त्याग करना, जहां प्रतिष्ठा या मान मिलनेकी संभावना हो वहांसे दूर रहना, अपनी वड़ाई सुननेका अवसर न आने देना, दीनोंपर दया रखना और उनकी सेवाके लिये बड़ेसे वड़े त्यागके लिये अपनेको तैयार करना, यथासंभव किसी पंचायतीके प्रपञ्चमें न पड़ना, सभासमितियोंसे भरसक अलग रहना, परमार्थमें अनुपयोगी साहित्यको न पढ़ना, विवाह और उत्सव आदि भीड़भाड़के और अधिक जनसमुदायके अन्दर यथासाध्य कम सम्मिलित होना, किसी भी दूसरेके धर्मकी कभी निन्दा न करना, छल छोड़कर सबसे सरल व्यवहार करना.

और दम्भाचरणसे बचनेकी सदा चेष्टा रखना आदि साधुव्यवहार हैं, इनमें जो जितनी उन्नति करेगा, वह उतना ही परमार्थके साधनमें अग्रसर हो सकेगा।

साधकको इस बातका सदा ध्यान रखना चाहिये कि उसके जीवनकी गति किस ओर जा रही है। यदि दैवीसम्पत्तिकी ओर है तो समझना चाहिये कि उसकी उन्नति हो रही है और यदि आसुरीसम्पत्तिकी ओर है तो अवनति हो रही है। यही कसौटी है। भक्ति या ज्ञान कथनमात्रका नाम नहीं है, यह निश्चय रखना चाहिये। भक्ति या ज्ञानके मार्गपर जो आगे बढ़ रहे हैं उनमें दैवीसम्पत्तिके* गुणोंका विकास होना अनिवार्य है।

पापोंसे सावधानी

साधकको अन्ततः पापोंसे सदा ही सावधान रहना चाहिये। पापबुद्धि जब मनमें आती है तब छोटीसी तरङ्गके समान आती है परन्तु यदि उसे आश्रय मिल जाता है तो वही बहुत जल्द समुद्रके समान बनकर मनुष्यको डुबो देती है। इसलिये तनिकसे भी पापकी कभी उपेक्षा न करनी चाहिये, चाहे वह शारीरिक हो

---

* दैवी और आसुरी सम्पत्तिका विवेचन श्रीगीताके १६ वें अध्यायमें देखना चाहिये। हो सके तो प्रतिदिन उसका पाठ और मनन कर अपनेमें दैवीसम्पत्तिके गुणोंको बढ़ाने और आसुरीसम्पत्तिके अवगुणोंको दूर करनेका पूरा प्रयत्न करना चाहिये।

या मानसिक। सांपका या सशस्त्र डाकूका घरमें रहना उतना घातक नहीं है जितना तनिकसी पापबुद्धिका मनमें रहना है।

कुछ लोग कह दिया करते हैं कि पाप करना तो मनुष्यका स्वभाव है या उसके प्रारब्धमें ही पापका योग है, परन्तु यह बात सर्वथा असत्य है। न तो पाप करना मनुष्यका स्वभाव है और न पापका विधान प्रारब्धमें ही है। यह तो पाप करनेवालों-की युक्तियां हैं, जो पापमें रत रहते हुए भी स्वभाव या प्रारब्धपर दोष मंढ़कर स्वयं निर्दोष बनना चाहते हैं। असलमें यह दुर्बल हृदयकी कल्पनामात्र है। मनुष्यका स्वभाव तो पापोंसे बचकर उन सब भावोंको अपने अन्दर विकसित करनेका है जो उसे परम सत्य वस्तुके अति निकट ले जानेवाले हैं। पाप तो विषय-भोगोंकी आसक्तिसे होते हैं, इस आसक्तिका त्याग किये बिना मनुष्य कदापि सत्य वस्तुकी पहचान नहीं कर सकता। विषया-सक्ति तो पशुधर्म है, मनुष्योंने अज्ञानसे इसे अपना स्वभाव मानकर अपनेको परमार्थसे बहुत दूर हटा रक्खा है। इसीसे हमें बारम्बार दुःखोंका शिकार बनना पड़ता है। अतएव हृदयमेंसे खोज खोजकर बुरी वासनाओंको निकालना चाहिये। जरासे भी पापको आश्रय देना अपने आपको सदाके लिये दुःखरूप नरकमें डालनेकी तैयारी करना है। मनुष्यमें भगवान्‌की दी हुई ऐसी शक्ति है कि वह चाहे तो पापके परमाणुमात्रसे बचा रह सकता है। इसीलिये भगवान्‌ने आदेश दिया है कि 'हे मनुष्य! तू अपने आपको सम्हालकर सारे पापोंके निवासस्थान ,दुर्जय कामरूप शत्रुका

नाश कर, *'जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।'* (गीता)

प्रभुपर विश्वास

साधकको साधनपथसे कभी न डिगने देनेका बहुत सुन्दर उपाय 'प्रभुपर अटल विश्वास' है। जो साधक परमात्माकी दयालुता, करुणा, उनके विरद, सुहृदपन और प्रेमका तत्त्व जानकर उनपर विश्वास रखता है, वह कभी हताश नहीं हो सकता। हम लोग जो पद पदपर साधनसे गिर जाते हैं इसमें एक प्रधान कारण प्रभुमें विश्वासकी कमी है। भगवान् कहते हैं 'जो मुझे सब प्राणियोंका सुहृद् समझ लेता है वही परम शान्तिको प्राप्त कर लेता है।' *सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति* (गीता) वास्तवमें यह बहुत ठीक बात है। परमात्माको सुहृद् जान लेनेपर उसके बलपर, उसके विश्वासपर मनुष्य अपनेको सबल समझकर विषयासक्ति और पापोंको दूर करानेमें सर्वथा समर्थ हो जाता है। हम अपने नित्य सुहृद् परमात्माको नहीं पहचानते, यह हमारा बड़ा दुर्भाग्य है। साधकको यह निश्चय रखना चाहिये कि परमात्मा मेरा सबसे सच्चा सुहृद् है, नित्य संगी है, मुझे सदा पापोंसे बचाता है। मुझे तो बस, उसीकी शरण होकर उसीका चिन्तन करना चाहिये, फिर सारा भार उसीके ऊपर है। जो साधक परम विश्वासके साथ ऐसा कर लेता है वह निस्सन्देह समस्त विघ्नोंको लांघकर परमात्माको पा लेता है। भगवान्ने कहा है, मुझमें चित्त लगानेवाला मेरी कृपासे सब प्रकारसे सङ्कटोंसे अनायास ही तर जाता है। *'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि'* (गीता)

भगवान्‌के सामने दीनता

साधकोंके लिये एक बहुत उत्तम उपाय है, परमेश्वरके सामने आर्त्त होकर दीनभावसे हृदय खोलकर रोना! यह साधन एकान्तमें करनेका है। सबके सामने करनेसे लोगोंमें उद्वेग होने और साधनके दम्भरूपमें परिणत हो जानेकी सम्भावना है। प्रातःकाल, सन्ध्या समय, रातको मध्यरात्रिके बाद या उषाकालमें जब सर्वथा एकान्त मिले, तभी आसनपर बैठकर मनमें यह भावना करनी चाहिये कि 'भगवान् यहां मेरे सामने उपस्थित हैं, मेरी प्रत्येक बातको सुन रहे हैं और मुझे देख भी रहे हैं।' यह बात सिद्धान्तसे भी सर्वथा सत्य है कि भगवान् हर समय हर जगह हमारे सभी कामोंको देखते और हमारी प्रत्येक बात सुनते हैं। भावना बहुत दृढ़ होनेपर, भगवान्‌के जिस स्वरूपका इष्ट हो, वह स्वरूप साकाररूपमें सामने दीखने लगता है, एवम् प्रेमकी वृद्धि होनेपर तो भगवत्कृपासे भगवान्‌के साक्षात् दर्शन भी हो सकते हैं। अस्तु!

आसनपर बैठकर भगवान्‌को अपने सामने उपस्थित समझकर दिनभरके पापोंका स्मरणकर उनके सामने अपना सारा दोष रखना

चाहिये और महान् पश्चात्ताप करते हुए आर्त्तभावसे क्षमा तथा फिर पाप न बने, इसके लिये बलकी भिक्षा मांगनी चाहिये। हो सके तो भक्तश्रेष्ठ श्रीसूरदासजीका यह पद गाना चाहिये, या इस भावसे अपनी भाषामें सच्चे हृदयसे विनय करनी चाहिये।

मो सम कौन कुटिल खल कामी।

जिन तनु दियो ताहि बिसरायो ऐसो नमकहरामी॥
भरि भरि उदर विषयको धायो जैसे सूकर ग्रामी।
हरिजन छांड़ि हरी विमुखनकी निसदिन करत गुलामी॥
पापी कौन बड़ो जग मोतें सब पतितनमें नामी।
सूर पतितको ठौर कहां है सुनिये श्रीपति स्वामी॥

हे दीनबन्धु! यह पापी आपके चरणोंको छोड़कर और कहां जाय? आप सरीखे अनाथनाथके सिवा जगत्‌में ऐसा कौन है जो मुझपर दयादृष्टि करे? प्रभो! मेरे पापोंका पार नहीं है, जब मैं अपने पापोंकी ओर देखता हूं तब तो मुझे बड़ी निराशा होती है, करोड़ों जन्मोंमें भी उद्धारका कोई साधन नहीं दीखता, परन्तु जब आपके विरदकी ओर ध्यान जाता है तब तुरन्त ही मनमें ढाढ़स आ जाता है। आपके वह वचन स्मरण होते हैं, जो आपने रणभूमिमें अपने सखा और शरणागत भक्त अर्जुनसे कहे थे—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय! प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

अत्यन्त पापी भी अनन्यभावसे मुझको निरन्तर भजता है तो उसे साधु ही मानना चाहिये, क्योंकि उसने अबसे आगे केवल भजन करनेका ही भलीभांति निश्चय कर लिया है। अतएव वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और सनातन परम शान्तिको प्राप्त होता है, हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य समझ कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। हे भाई! तू सब धर्मोंको छोड़कर केवल एक मुझ वासुदेव श्रीकृष्णकी शरण हो जा, मैं तुझे सारे पापोंसे छुड़ा दूंगा, तू चिन्ता न कर!

कितने जोरके शब्द हैं, आपके सिवा इतनी उदारता और कौन दिखा सकता है? '*ऐसो को उदार जग मांही*।' परन्तु प्रभो! अनन्यभावसे भजन करना और एक आपकी ही शरण होना तो मैं नहीं जानता। मैंने तो अनन्त जन्मोंमें और अबतक अपना जीवन विषयोंकी गुलामीमें ही खोया है, मुझे तो वही प्रिय लगे हैं, मैं आपके भजनकी रीति नहीं समझता। अवश्य ही विषयोंके विषम प्रहारसे अब मेरा जी घबरा उठा है, नाथ! आप अपने ही विरदको देखकर मुझे अपनी शरणमें रखिये और ऐसा बल दीजिये, जिससे एक क्षणके लिये भी आपके मनमोहन रूप और पावन नामकी विस्मृति न हो।

हे दीनबन्धो ! दीनोंपर दया करनेवाला दूसरा कौन है?

दीनको दयालु दानि दूसरो न कोऊ।
जासों दीनता कहौं हौं देखौं दीन सोऊ॥
सुर नर मुनि असुर नाग साहब तौ घनेरे।
तौ लौं जौ लौं रावरे न नेकु नयन फेरे॥
त्रिभुवन तिहुं काल विदित वेद वदति चारी।
आदि अन्त मध्य राम साहबी तिहारी॥
तोहि मांगि मांगनो न मांगनो कहायो।
सुनि सुभाव सील सुजस जाचन जन आयो॥
पाहन, पसु, विटप, विहँग अपने करि लीन्हें।
महाराज दसरथके रंक राय कीन्हें॥
तू गरीबको निवाज ! हौं गरीब तेरो।
बारक कहिये कृपालु ! तुलसिदास मेरो॥

हे तिरस्कृत भिखारियोंके आश्रयदाता ! दूसरा कौन ऐसा है जो आपके सदृश दीनोंको छातीसे लगा ले ? जिसको सारा संसार घृणाकी दृष्टिसे देखता है, घरके लोग त्याग देते हैं, कोई भी मुंहसे बोलनेवाला नहीं होता, उसके आप होते हैं, उसको तुरन्त गोदमें लेकर मस्तक सूंघने लगते हैं, हृदयसे लगाकर अभय कर देते हैं। रावणके भयसे व्याकुल विभीषणको आपने बड़े प्रेमसे अपने चरणोंमें रख लिया, पाण्डव-महिषी द्रौपदीके लिये आपने ही वस्त्रावतार धारण किया, गजराजकी पुकारपर आप ही पैदल

दौड़े। ऐसा कौन पतित है, जो आपको पुकारनेपर भी आपकी दयादृष्टिसे वंचित रहा है? हे अभयदाता! मैं तो हर तरहसे आपकी शरण हूं, आपका हूं, मुझे अपनाइये, प्रभो!

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुञ्ज-हारी॥
नाथ तू अनाथको, अनाथ कौन मोसो।
मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू ठाकुर, हौं चेरो।
तात, मात, सखा, गुरु तू सब विधि हितु मेरो॥
तोहिं मोहिं नाते अनेक मानिये जो भावे।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु चरन-सरन पावे॥

हे पतितपावन! हे आर्त्तत्राण-परायण! हे दयासिन्धो! बुरा भला जो कुछ हूं सो आपका हूं, अब तो आपकी शरण आपड़ा हूं, हे दीनके धन! हे अधमके आश्रय! हे भिखारीके दाता! मुझे और कुछ भी नहीं चाहिये। ज्ञान-योग, तप-जप, धन-मान, विद्या-बुद्धि, पुत्र-परिवार और स्वर्ग-पाताल किसी भी वस्तुकी या पदकी इच्छा नहीं है। आपका वैकुण्ठ, आपका परम धाम और आपका मोक्षपद मुझे नहीं चाहिये। एक बातकी इच्छा है, वह यह कि आप मुझे अपने गुलामोंमें गिन लीजिये, एकबार कह दीजिये कि 'तू मेरा है'। प्रभो!-गुसांईजीके शब्दोंमें मैं भी आपसे इसी अभिमानकी भीख मांगता हूं—

अस अभिमान जाइ नहिं भोरे।
मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

बस, इसी अभिमानमें डूबा हुआ जगत्‌में निर्भय विचरा करूं और जहां जाऊं वहीं अपने प्रभुका कोमल करकमल सदा मस्तकपर देखूं!—

हे स्वामी! अनन्य अवलम्बन! हे मेरे जीवन-आधार!
तेरी दया अहैतुकपर निर्भर कर आन पड़ा हूं द्वार॥
जाऊं कहां जगत्‌में तेरे सिवा न शरणद है कोई।
भटका, परख चुका, सबको, कुछ मिला न, अपनी पत खोई॥
रखना दूर रहा कोईने मुझसे नजर नहीं जोड़ी!
भला किया, यथार्थ समझाया, सब मिथ्या प्रतीति तोड़ी॥
हुआ निराश उदास, गया विश्वास जगत्‌के भोगोंका।
जिनके लिये खो दिया जीवन पता लगा उन लोगोंका॥
अब तो नहीं दीखता मुझको तेरे सिवा सहारा और।
जल-जहाजका कौआ जैसे पाता नहीं दूसरी ठौर॥
करुणाकर! करुणा कर सत्वर अब तो दे मन्दिर-पट खोल।
बांकी झांकी नाथ! दिखाकर तनिक सुना दे मीठे बोल॥
गूंज उठे प्रत्येक रोममें परम मधुर वह दिव्य-स्वर।
हृत्तन्त्री बज उठे साथ हो मिला उसीमें अपना सुर॥
तन पुलकित हो, सु-मन-जलजकी खिलजायें सारी कलियाँ।
चरण मृदुल बन मधुप उसीमें करते रहें रंगरलियाँ॥

हो जाऊं उन्मत्त, भूल जाऊं तन मनकी सुधि सारी।
देखूं, फिर कण-कणमें तेरी छवि नव-नीरद-घन प्यारी॥
हे स्वामिन्! तेरा सेवक बन, तेरे बल होऊं बलवान।
पाप-ताप छिप जायें, हो भयभीत, मुझे तेरा जन जान॥

इस भावकी प्रार्थना प्रतिदिन करनेसे बड़ा भारी बल मिलता है। जब साधकके मनमें यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि मैं भगवान्‌का दास हूं, भगवान् मेरे स्वामी हैं, तब वह निर्भय हो जाता है। फिर माया-मोहकी और पाप-तापोंकी कोई शक्ति नहीं जो उसके सामने आ सकें। जब पुलिसका एक साधारण सिपाही भी राज्यके सेवकके नाते राज्यके बलपर निर्भय विचरता है और चाहे जितने बड़े आदमीको धमका देता है, तब जिसने अखिल-लोकस्वामी 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं' समर्थ भगवान्‌को अपने स्वामीरूपमें पा लिया है, उसके बलका क्या पार है? ऐसा भक्त स्वयं निर्भय होजाता है और जगत्‌के भयभीत जीवोंको भी निर्भय बना देता है।
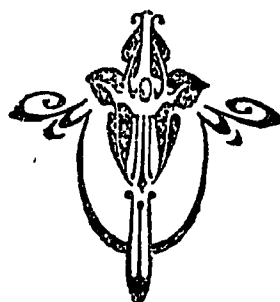
प्रभुको आत्म-समर्पण

साधकके लिये सबसे ऊंचा, सहजमें ही सिद्धि देनेवाला साधन प्रभुके प्रति आत्म-समर्पण है। भगवच्चरणोंमें अपने आपको सौंप देना ही सारे शास्त्रोंका गुप्त रहस्य और समस्त साधनोंमें अन्तिम साधन है। सब प्रकारसे ज्ञान-विज्ञान, भक्ति-कर्म आदिका उपदेश कर चुकनेके बाद अन्तमें भगवान्‌ने यही गुप्त रहस्य अपने प्रिय सखा भक्त अर्जुनको बतलाया था। इसी परम साधनसे मनुष्य अपने जीवनको उच्चसे उच्च स्थितिपर पहुंचा सकता है।

इस आत्म-समर्पणका अर्थ केवल जीवनके कर्मोंको त्याग हाथ पैर सिकोड़कर बैठ जाना नहीं है। कुछ लोग भूलसे यही मान लेते हैं, कि 'करने करानेवाले भगवान् हैं, उन्हींकी शक्ति सबके अन्दर काम करती है, हमारा काम केवल चुप होकर बैठ रहना है।' परन्तु यह बड़ा भारी भ्रम है, इससे आत्म-समर्पण सिद्ध नहीं होता। आत्म-समर्पणमें सबसे पहले आत्माका अर्पण होता है, आत्माके साथ ही अहंकार, मन, बुद्धि, शरीर सभी उसके अर्पण हो जाते हैं, ऐसा होनेपर साधकको यह स्पष्ट उपलब्धि होने लगती है कि इस शरीर, मन, वाणीसे जो कुछ होता है सो वास्तवमें भगवान् ही करा रहे

हैं। इससे पहले वह समझता था कि 'मैं' कर रहा हूं, अब समझता है कि 'भगवान् कर रहे हैं।' अपने कर्त्तापनका सारा अहंकार भगवान्के अहंकारमें मिल जाता है, क्योंकि मन, बुद्धि उन्हींके अर्पित हो चुकी हैं। मन-बुद्धिका सारा स्वातन्त्र्य यहांपर लुप्त हो जाता है, अब भगवान्का संकल्प ही उसका संकल्प, भगवान्का विचार ही उसका विचार और भगवान्की क्रिया ही उसकी क्रिया है। यदि भगवान् संकल्परहित, विचाररहित और क्रियारहित हैं, तो वह भी वैसा ही है, क्योंकि संकल्प, विचार और क्रिया होनेमें जिस अन्तःकरणकी आवश्यकता है, वह मन-बुद्धिरूप अन्तःकरण भगवान्की वस्तु बन गया है, उसपर उसका अपना कोई अधिकार नहीं रह गया। इसीलिये ऐसे साधकका सब जिम्मा भगवान् ले लेते हैं, वे कहते हैं—जिसने मन-बुद्धि मुझे अर्पण कर दिये हैं, वह निस्सन्देह मुझको प्राप्त होता है '*मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्*' परन्तु इसमें कर्म त्यागकर निश्चेष्ट हो रहनेका उपदेश नहीं है; इसी मन्त्रमें भगवान् कहते हैं कि 'निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर '*सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च*' इस बातको स्मरण रखता हुआ युद्ध कर कि यह सब भगवान्की लीला है, सब कुछ वही कराते हैं, मैं तो उनके हाथकी पुतलीमात्र हूं, वह यन्त्री हैं, मैं यन्त्र हूं। जिधर घुमाते हैं, उधर ही प्रसन्नतासे घूम जाता हूं, कभी जरासी भी आनाकानी नहीं करता। इसीसे अर्जुनने धर्माधर्मके सारे विचारोंका त्याग करके स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया था, कि 'मेरा

सन्देह जाता रहा, मैं अब तुम जो कुछ कहोगे, वही करूंगा '*गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।*'

ऐसा साधक कर्म-त्याग या संसार-त्यागकी इच्छा अनिच्छा नहीं करता। भगवान्के खेलका खिलौना बने रहनेमें ही वह अपना सौभाग्य समझता है, क्योंकि इससमय उसकी दृष्टिमें संसारका स्वरूप पहले-कासा जड़ नहीं रह जाता, वह सर्वदा सर्वत्र देखता है, केवल चैतन्यको और चैतन्यकी विचित्र लीलाको! वह समस्त जगत्को हरिका स्वरूप और समस्त कर्मराशिको हरिका खेल देखता है, इसीसे वह इस खेलमें सदा सम्मिलित रहकर हरिरूप जगत्की सेवा किया करता है। परन्तु इसमें उसका यह भाव कदापि नहीं रहता कि 'मैं जगत्की सेवा करता हूं, या अपने कर्तव्यका पालन करता हूं' क्योंकि उसका तो अब कोई कर्तव्य रह ही नहीं जाता, पुतली कर्तव्यका ज्ञान नहीं रखती, वह तो स्वाभाविक ही मालिकके इशारेपर नाचती है। उसे इस कर्तव्य-ज्ञानकी आवश्यकता भी नहीं रहती, क्योंकि उसकी बागडोर किसी दूसरे सयानेके हाथमें है। ऐसी अवस्थामें वह साधक,—संसारके भोगोंकी तो बात ही कौनसी है, वे तो अत्यन्त तुच्छ, नगण्य हैं, उनकी ओर झाँकना तो उससे बन ही नहीं सकता क्योंकि वे तो उसकी दृष्टिमें भगवान्की लीलाके अतिरिक्त कोई खास चीज ही नहीं रह जाते। ऊंचेसे ऊंचे लोक भी उन्हींके लीलाक्षेत्र हैं, उन लोकोंके लिये भी उसका मन नहीं चलता,—अपनेको सदाके लिये प्रभुकी लीलाका एक खिलौना मानता है। सर्वत्र अबाधित मनोहर

नित्य-लीलामें भगवान् उसको अपने हाथमें लिये कहीं भी क्यों न रहे, उस खिलाड़ीके हाथोंसे और उसकी नज़रसे तो वह हटता नहीं, फिर खेलकी जगहके एक भागसे दूसरे भागमें जानेकी इच्छा अनिच्छा वह क्यों करने लगा? हां, यदि प्रभु कभी उसे खेलसे अलग होनेको कहते हैं, अपनी नज़रसे ओझल करना चाहते हैं, तो इस बातको वह स्वीकार नहीं करता, इसीसे भागवतमें भगवान्‌ने कहा है कि, 'मेरे भक्त मेरी सेवाको छोड़कर मुक्तिको भी स्वीकार नहीं करते— *दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।'*

ऐसा भक्त जगत्‌के सभी कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता। उसका सेवाकार्य, उसकी व्यापार-प्रवृत्ति, उसकी रण-शूरता और उसका ज्ञान-वितरण सभी कुछ परमात्माकी लीलाके अंग होते हैं। वह इस लीला-अभिनयका एक आज्ञाकारी चतुर पात्र होकर रहता है। उसकी क्रिया और कर्मवासना अहंकारप्रेरित न होकर प्रभुप्रेरित हुआ करती है। ऐसा दिव्य लीला-कर्मी भक्त शुभाशुभ फलरूप कर्म-बन्धनसे सदा ही मुक्त रहता है। भगवान्‌की प्राप्ति तो उसको नित्य रहतीही है, क्योंकि उसकी जीवन-डोर ही भगवान्‌के हाथमें रहती है। मुक्ति अवश्य ही दासत्वके लिये उसके चरणोंकी ओर ताका करती है, कभी कभी हठसे चरणोंमें चिपट भी जाती है। एक रसीले भक्त-कविने बहुत ही सुन्दर कहा है—

घनःश्यामोऽस्माकं तव तु भजनेऽन्यत्र न रुचि-
स्तवैवाङ्घ्रिद्वन्द्वे नतिषु रतिरस्माकमतुला।

सकामे निष्कामा सपदि तु सकामा पदगता,
सकामास्मान्मुक्तिर्भजति महिमायं तव हरे ॥

हे हरे ! हमारी तो तुम्हारे भजनमें ही गाढ़ रुचि है। अन्य किसी भी पदार्थमें नहीं है। तुम्हारे ही चरणयुगलोंमें पड़े रहनेहें हमारा अतुल प्रेम है। हे भगवन् ! तुम्हारी कुछ ऐसी अपार महिमा है कि वह वेचारी मुक्ति जब सकाम विषय-कामी लोगोंको नापसन्द कर डालती है, तब उसी क्षण अपनेको निराश्रय समझ कर बड़ी उत्सुकतासे हम भक्तोंके चरणोंमें चिपटकर हमारी चरण-सेवा करने लगती है।

चरण-सेविका बननेपर भी ऐसे भक्त उस मुक्तिके चंगुलमें फंसना नहीं चाहते। इस तरहके ऊंचे साधकोंकी सारी जिम्मेवारी स्वभावतः ही भगवान्‌के ऊपर रहती है। भगवान्‌ने अर्जुनके सामने प्रतिज्ञा करके कहा है—'मैं तुझे मुक्त कर दूंगा, तुझे कोई चिन्ता नहीं'—*अहं त्वा मोक्षयिष्यामि मा शुचः*। हम बड़े ही मन्दबुद्धि हैं, अविश्वासी और अश्रद्धालु हैं, विविध प्रलोभनोंमें पड़कर व्यर्थ-मनोरथ होते रहनेसे हमारा मन सन्देहसे भर गया है, जागतिक भोग-सुखोंकी तुच्छ स्पृहा और धर्म-कर्मादिके साधनोंसे इन सुखोंके प्राप्त करनेका उपाय बतलानेवाली पुष्पिता वाणीने हमें मोहित कर रक्खा है, इसीसे हम भगवान्‌की इस प्रेम-पूरित महान् प्रतिज्ञा-वाणीपर परम विश्वासकर अनन्यभावसे उनकी शरण नहीं लेते।

इसीसे बारम्बार एक कष्टसे दूसरे कष्टमें पड़ते हुए संकटमय अशान्त जीवन बिता रहे हैं—पथभ्रष्ट पथिककी भांति श्रान्त-क्लान्त होकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं। वास्तवमें यह हमारी बड़ी ही दयनीय दशा है। इस स्थितिसे छुटकारा पानेके लिये हमें संकल्प-शक्तिके द्वारा भगवान्‌को आत्मसमर्पण करनेका अभ्यास करना चाहिये। अपने प्रत्येक कर्मके मूलमें भगवत्-प्रेरणा समझने, प्रत्येक सुख-दुःख-को भगवान्‌का दयापूर्ण विधान समझकर उसीमें सन्तुष्ट रहने तथा निरन्तर उसका स्मरण करते हुए प्रत्येक कर्म बिना किसी भी इच्छा-अभिलाषाके यन्त्रवत् करते रहनेका अभ्यास करना चाहिये।

परन्तु केवल मुखसे, 'मैं तुम्हारे शरण हूं' 'मैं तो तुम्हें आत्म-समर्पण कर चुका' आदि शब्द कह देनेमात्रसे कुछ भी नहीं होता। अपना माना हुआ सर्वस्व उसके अर्पण कर देना होगा। अहंकार, मन,बुद्धि,शरीरका प्रत्येक संकल्प, प्रत्येक चिन्तन, प्रत्येक विचार, प्रत्येक कामना और प्रत्येक कर्म सब कुछ उसके अर्पण कर देने होंगे। भोगोंकी ओर दौड़ते हुए मन और इन्द्रियोंको लौटाकर उनकी गति सर्वथा भगवान्‌की ओर कर देनी पड़ेगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि एकबार भगवान्‌की शरण ग्रहण करनेपर मनुष्य समस्त भयसे छूट जाता है। आदिकवि महर्षि वाल्मीकिकी कवितामें भगवान् श्रीरामके यह वचन सर्वथा सत्य हैं कि—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥
(वाल्मीकि रामायण)

जो 'कोई प्राणी एक वार भी मेरे शरण होकर यों कहता है कि 'मैं तुम्हारा हूं' उसे मैं अभय कर देता हूं, यह मेरा व्रत है।'

भगवान्‌के इस व्रतमें कोई सन्देह नहीं है, एकवार भगवान्‌के प्रति आत्म-समर्पण हो जानेपर जीव सदाके लिये अवश्य ही निर्भय हो जाता है। वास्तवमें आत्म-समर्पण होता भी एक ही वार है। समर्पणका अर्थ दान है, दान और ग्रहण एक ही कालमें एक-वार ही हुआ करता है, जहां एक बार हो चुका, वहां सदाके लिये ही हो गया। परन्तु हम एकवार उनको आत्म-समर्पण करते ही कहां हैं? आत्म-समर्पण या शरणका नाम जानते हैं, अर्थ नहीं जानते। हमारा ज्ञान, ध्यान, भजन या तो लोगदिखाऊ होता है या भोगोंको पानेके लिये होता है। हमारे मनकी सारी वृत्तियां नदियोंके समुद्रमें जाकर पड़नेकी भांति सदा संसार-सागरमें जाकर पड़ती रहती हैं, ऐसी अवस्थामें हम निर्भय कैसे हो सकते हैं? अन्तर्यामी भगवान् भला बनावटी बातोंमें क्यों फंसने लगे? सच पूछिये तो हम भांति-भांतिके भयोंमें फंसे हुए हैं। पुत्रके मरनेका भय है, धन जानेका भय है, कीर्ति-नाशका भय है, झूठी इज्जतका भय है, शरीर-नाशका भय है, घर-समाजके नाराज होनेका भय है। एक

भय हो तो बताया जाय! हमने तो अपने चारों ओर भयका दल बटोर रक्खा है, इसीसे हमें आज तमाखू सरीखी तुच्छ चीज छोड़नेमें भी स्वास्थ्यनाशका भय रहता है, सर्वथा हानिकर रूढ़ी तोड़नेमें भी स्त्रियोंका और समाजका भय लगता है, सच्ची बात कहनेमें भी राजका भय रहता है। इन्हीं सब भयोंके कारण हम नानाप्रकारके पापोंमें रत रहते हैं, यही आसुरी भाव हैं। जबतक इन आसुरी भावोंमें फंसे रहकर हम पाप बटोरते हैं, तबतक भगवान्‌के शरण कैसे हो सकते हैं? भगवान्‌ने तो स्वयं कहा है कि—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥
(गीता ७। १५)

'मायाने जिनका ज्ञान हरण कर लिया है, ऐसे पापी, आसुरी-स्वभावके नराधम मनुष्य मुझ भगवान्‌की शरण नहीं हो सकते।'

इन सब भयके दलोंका दलनकर, सबको पैरोंसे कुचलते हुए दृढ़ और अविराम गतिसे आगे बढ़ना होगा, तब हम निर्भय शरणपदके अधिकारी होंगे।

कुछ लोग विदेशसे दुखी होकर अपने घर जाना चाहते थे, उनका घर हिमालयकी तराईमें उत्तरकी ओर था, परन्तु उन्होंने इस बातको भूलकर दक्षिणकी ओर जाना आरम्भ कर दिया।

घर जानेकी लगन बहुत जोरकी थी, इसलिये वे उसी उल्टे मार्गपर खूब दौड़ने लगे। उन्हींके दो चार साथी जिनको सच्चे मार्गका ज्ञान था, उत्तरकी ओर जा रहे थे, रास्तेमें उनकी परस्पर भेंट हो गयी। यथार्थ मार्गपर सीधे घरकी ओर जानेवाले लोगोंने उल्टे जाते हुए लोगोंसे पूछा, 'भाई, तुम सब कहां जा रहे हो?' उनमेंसे कुछने कहा 'हम अपने घर जा रहे हैं।' उन्हींके देशके और एक ही गांवके ये लोग भी थे। उन्होंने कहा—'भाई! घरके रास्ते तो हम लोग जा रहे हैं, तुम सब उल्टे दौड़ते हुए, घरसे और भी दूर बढ़े चले जा रहे हो, बहुत दूर निकल जाओगे तो फिर लौटनेमें बड़ी तकलीफ होगी, इस मार्गमें कहीं तुम लोगोंको विश्राम करनेके लिये जगह नहीं मिलेगी। वृक्षकी शीतल छाया या शान्तिप्रद ठण्डा जल तो इस ओर है ही नहीं। बड़े ज़ोरकी लू चल रही है, सारा शरीर झुलस जायगा, थककर हैरान हो जाओगे, प्यासके मारे प्राण छटपटानेपर भी कहीं सरोवरके दर्शन नहीं होंगे। इसलिये इस दुखदायी विपरीत पथको छोड़कर हमारे साथ सीधे रास्ते चलो।' विपरीत-मार्गियोंमें बहुतोंने तो इस बातको सुनना ही नहीं चाहा, उनकी समझमें इन बातोंके सुननेमें समय लगाना सुखरूप घर पहुंचनेमें देर करने जैसा प्रतीत हुआ। कुछने बातें तो सुनी, परन्तु विचार करनेपर उनको इन बातोंमें कुछ सार नहीं दिखलायी दिया, वे भी चले गये। कुछ लोग ठहरकर विचार करने लगे, उन्होंने सीधे रास्तेकी तरफ घूमकर

देखा, थोड़ी देर वहां खड़े रहे, साथ चलनेकी इच्छा भी हुई, उन्हें अपना मार्ग विपरीत भी प्रतीत हुआ परन्तु वे मोहवश पुराने साथियोंका साथ नहीं छोड़ सके, अतएव अपने मार्गमें शङ्काशील होते हुए भी वे उसी उल्टे मार्गपर चल पड़े। इन लोगोंमेंसे कुछ तो आगे जाकर ठहर गये और खूब सोच विचार वापस मुड़ गये एवं कुछ अपने पुराने साथियोंकी बातोंमें आकर उसी मार्गसे चल दिये ! कुछ थोड़ेसे ही ऐसे निकले जो इनकी बातें सुनते ही सावधान होकर एकदम मुड़ गये, मुड़ते ही—सारा शरीर सीधे मार्गके सामने करते ही सुन्दर स्वच्छ प्रकाशमय पथ और सामने ही अपना घर देखकर वे परम सुखी हो गये। फिर पीछेकी ओर झाँकनेकी भी उनकी इच्छा नहीं हुई। पुराने साथियोंने पुकारा, वापस लौटनेको कहा, परन्तु उन्होंने उधरकी ओर मुंह बिना ही फिराये उनसे कह दिया 'भाई ! हम अब इस सुखके मार्गसे वापस नहीं लौट सकते। सीधे मार्गपर आते ही हमें अपना घर सामने दीखने लगा है, घरकी प्रीति अब तो हमें मन करनेपर भी लौटने नहीं देती।' वे नहीं लौटे और सब झंझटोंसे छूटकर तुरन्त अपने घर पहुंचकर सदाके लिये सुखी हो गये।

इसी प्रकार इस संसारमें भी चार प्रकारके मनुष्य हैं—पामर, विषयी, मुमुक्षु और मुक्त। परम और नित्य सुखरूप परमात्माकी खोज सभी करते हैं, सभी सुखके अन्वेषणमें दौड़ते हैं, परन्तु

अधिकांश मनुष्य पथभ्रष्ट होकर विपरीत मार्गपर ही चलते हैं, इसीसे उन्हें सुखके बदलेमें बारम्बार दुःख-कष्टोंका शिकार बनना पड़ता है। कहीं भी शान्ति-सुखके दर्शन नहीं होते! इनमेंसे जो लोग सन्मार्गपर चलनेवाले सदाचारी सन्त महात्माओंकी वाणीको सुनना ही व्यर्थ समझते हैं, चौबीसों घण्टे 'हाय धन, हाय पुत्र, हाय सुख, हाय भोग, हाय कीर्ति' आदि चिल्लाते हुए ही भटकते हैं, कहां जाते हैं, इसका उन्हें स्वयं कुछ भी पता नहीं है तथापि अन्धोंकी तरह चल ही रहे हैं, वे तो पामर मनुष्य हैं। दूसरे वे विषयी पुरुष हैं, जो कभी कभी प्रसंगवश अकारण कृपालु सन्त महात्माओंद्वारा कुछ परमार्थकी बातें सुन तो लेते हैं, परन्तु उनमें उन लोगोंको कोई सार नहीं दीखता, इससे वे सुनकर भी तदनुसार चलनेकी इच्छा नहीं करते। तीसरे मुमुक्षु हैं, इनमें प्रधानतः दो श्रेणियां हैं-मन्द और तीव्र। जो मन्द मुमुक्षु हैं, वे सत्संगमें परमार्थकी बातें मन लगाकर सुनते हैं, सन्मार्गपर चलकर भगवत्-प्राप्तिकी इच्छा भी करते हैं, मार्गकी ओर कुछ क्षणोंके लिये मुंह फिराकर यानी संसारके बाह्य भोगोंसे मनकी गतिको क्षणभरके लिये रोककर ईश्वरकी ओर लगाना भी चाहते हैं परन्तु विषयी पुरुषों-के संगसे व्यामोहमें पड़कर अपनी पुरानी चाल नहीं छोड़ सकते और पुनः विषयोंमें ही दौड़ने लगते हैं। परन्तु जो तीव्र मुमुक्षु होते हैं, वे एकदम मुड़कर अपने मनकी गतिको सर्वथा ईश्वरोन्मुखी कर देते हैं। इस तरफ एक बार दृढ़ निश्चयपूर्वक पूर्णरूपसे लग जाने-

पर–भगवान्के सम्मुख हो जानेपर मनुष्यको कुछ विलक्षण ही आनन्द मिलने लगता है, परमात्मारूप परमानन्दका नित्य-निकेतन उसे अत्यन्त समीप—अपने अन्दर बाहर सब जगह दीखने लगता है, वह फिर किसी तरह भी संसारके बाह्यरूपकी ओर मन नहीं लगा सकता, यही एकबार परमात्माके सम्मुख होना है। हम लोग वाह्यभावको—मुखके शब्दोंको ही आत्म-समर्पण समझकर शास्त्रवचनोंपर सन्देह करने लगते हैं और सोचते हैं कि 'हम तो किसी समय एकबार भगवान्के शरणागत हो गये थे, आत्म-समर्पण कर दिया था, परन्तु अभीतक हमारा उद्धार नहीं हुआ, इससे सम्भव है कि वाल्मीकि रामायणका यह श्लोक प्रक्षिप्त हो या केवल रोचक शब्द ही हों।' परन्तु यह नहीं सोचते, एकबार पूर्ण आत्म-समर्पण कर चुकनेके बाद किसी प्रकारका भय या अपने उद्धारकी चिन्ता ही कैसे हो सकती है? भगवान्को आत्म-समर्पण करनेवालेको किसका भय और उसका कैसा उद्धार? यदि भय या उद्धारकी चिंन्ता है तो आत्म-समर्पण ही कहां हुआ? दोष भरा है हमारे अन्दर, देखते हैं हम रातदिन जगत्के भोग सुख और तृप्तिकी असंख्य वाह्य वस्तुओंको, सुख ढूंढ़ते हैं उनमें, और सन्देह करते हैं भगवान् और भक्तशिरोमणि ऋषियोंके अनुभूत वाक्योंपर! कैसी विचार-विडम्बना है!

आत्म-समर्पणके लिये अपनेको दुष्कृतों—पापोंसे बचाकर आसुरी भावका आश्रय छोड़कर मायाके द्वारा अपहृत ज्ञानको

सत्कर्म और उपासनासे पुनः अर्जन करना होगा और उस ज्ञानके द्वारा परमात्माके स्वरूपको समझकर निश्चल एकनिश्चयसे अपना जीवन उन्हें अर्पण कर देना होगा। यही भगवान्‌के एकवार सम्मुख होना है, भगवान्‌के सम्मुख होते ही तत्काल सारे पापपुञ्ज भस्म हो जाते हैं और वह मनुष्य उसी शाश्वती शान्तिरूप परम-पदको प्राप्त होता है, जहांसे पुनः कभी उसका स्खलन नहीं होता। पापोंके छोड़नेका यह मतलब नहीं कि, सारे पापोंका फल भोगनेके वाद हम भगवान्‌की शरण लेंगे। इसका अर्थ यही है कि, अवसे पापोंको छोड़कर, अपना अवशेष जीवन भगवान्‌को एकनिश्चयसे अर्पण कर देना चाहिये। फिर तो भगवान् स्वयं सँभाल लेते हैं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है:-

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९।३०।३१)

'अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्यभावसे मुझे भजता है तो उसे साधु मानना चाहिये क्योंकि उसने आगेके लिये केवल मुझे ही भजनेका निश्चय कर लिया है। उसे केवल साधु मानना ही नहीं चाहिये, वह वास्तवमें वहुत शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है और उस नित्य परम शान्तिको प्राप्त होता है। मैं यह सत्य विश्वास दिलाता हूं कि मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता।'

भगवान्‌के इन बड़े भरोसेके वचनोंपर विश्वास करके, नित्य अपने अत्यन्त समीप रहनेवाले अपने अन्दर ही बसनेवाले उस परमात्माको ज्ञानके द्वारा जानकर उसकी शरण ग्रहण करना चाहिये। अश्रद्धा, आलस्य, उद्योगहीनता, भय, संशय, जड़ता, अविश्वास आदि दोषोंको सब तरहसे तिलाञ्जलि देकर बड़े उत्साहसे भगवान्‌की विश्वलीलामें खिलौना बननेकी भावना करते हुए अग्रसर होना चाहिये।

भगवान्‌के दिव्य मन्दिरका द्वार सबके लिये सदा-सर्वदा खुला है। जो उन्हें चाहेगा, उसे ही वे मिलेंगे। जो उनसे प्रेम करेगा, उसीसे वे प्रेम करेंगे। अवश्य ही ज्ञान बिना उनके त्रिगुणातीत स्वरूपका पता नहीं लगता और उनके उस सतोगुणसे भी ऊंचे—अति विलक्षण अनिर्वचनीय स्वरूपका पता लगे बिना यथार्थ आत्म-समर्पण भी नहीं हो सकता परन्तु केवल शुष्क ज्ञानसे भी वहांतक पहुंचनेमें बड़ी बड़ी बाधाएं हैं, ज्ञानके साथ प्रेमामृतकी रस-धारा अवश्य ही बहती रहनी चाहिये। प्रेमके बिना—पराभक्तिके बिना केवल ब्रह्मभूत होनेसे ही भगवान्‌के यथार्थ स्वरूपका तत्त्वतः ज्ञान नहीं होता।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(गीता १८-५४।५५)

ब्रह्मभूत होनेपर प्रसन्नचित्तवाला पुरुप न किसी वस्तुके लिये शोक करता है, न किसीकी इच्छा करता है, तत्र सत्र भूतोंमें समभावसे स्थित वह पुरुष मेरी (परमात्मा) की 'पराभक्ति' को प्राप्त करता है। उस पराभक्तिके द्वारा मुझ (परमात्मा) को तत्त्वसे भलीभांति जानता है, इस प्रकार मैं जो और जिस प्रभाववाला हूं, उस मुझको भक्तिद्वारा तत्त्वसे जानकर वह तुरन्त ही मुझमें प्रवशे कर जाता है।

अतएव प्रेमसे भगवान्‌का स्मरण करते हुए उन्हें आत्म-समर्पण करनेकी भावनाको प्रबल इच्छा-शक्तिके द्वारा दिनोंदिन वढ़ाना चाहिये। आत्म-समर्पणकी इच्छा ज्यों ज्यों बलवती होगी, त्यों-ही-त्यों परमात्माके दरबारका दरवाजा आपसे आप खुलता रहेगा और अन्तमें हृदयस्थित श्रीविष्णुचरणसे भव-भयनाशिनी अलौकिक सुधा-धारा उत्पन्न होकर ज्ञान, वैराग्य और प्रेमरूप त्रिविध धारामें परिणत हो समस्त मन-प्राणको भगवद्रूपके प्रवाहमें वहा देगी। फिर जगत्‌का रूप तुरन्त ही बदल जायगा। फिर हमें दीख पड़ेगा—सर्वस्व हरिका, दीख पड़ेंगे—सर्वत्र हरि, हरिकी नित्यलीला और उस लीलामें भी केवल हरि ही—'*मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव*।'

यही मुक्तिका स्वरूप है, यहीं साधनका पर्यवसान है, यही परमगति है, इसीको जानने समझनेवाले आत्माराम भक्त बड़े दुर्लभ हैं—*वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।*

गीताप्रेस गोरखपुरकी पुस्तकें

१–श्रीमद्भगवद्गीता–मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारणभाषा-टीका, टिप्पणी, प्रधान और सूक्ष्मविषय-सहित, मोटाटाइप, मजबूत कागज, सुन्दर कपड़ेकी जिल्द, ४ रंगीन चित्र ५७०पृष्ठ १।)

२– ,, मोटा कागज, बढ़िया जिल्द २)

३–श्रीमद्भगवद्गीता–प्रायः सभी विषय १।) वालीके समान, एक विशेषता, श्लोकके सिरेपर भावार्थ छपा हुआ, साइज और टाइप कुछ छोटे पृष्ठ ४६८ मूल्य ॥≡) सजिल्द ॥≠)

हिन्दीमें अपने ढंगकी सबसे सस्ती

श्रीमद्भगवद्गीता

श्लोक और साधारण भाषाटीकासहित ३५२ पृष्ठकी शुद्ध छपी और अच्छे कागजकी सचित्र कवर। पुस्तकका दाम सिर्फ ≠)॥ सजिल्द ≶)॥

श्रीमद्भगवद्गीता

केवल भाषा मोटे अक्षरोंमें

उन लोगोंके लिये, जो संस्कृत श्लोक नहीं पढ़ सकते, एक तिरंगे चित्रसहित, दाम।) सजिल्द ।≠)

श्रीमद्भगवद्गीता

मूल, विष्णुसहस्रनामसहित, चार चित्र, सजिल्द १३२ पृष्ठका दाम ≠)

श्रीमद्भगवद्गीता

मूल, मोटा टाइप, एक तिरंगा चित्र ।-)सजिल्द ।≤)

श्रीमद्भगवद्गीता

ताबीजी साइज, सजिल्द २६६ पृष्ठ आकार २×२ १/२ इञ्च दाम≶)

गीता-डायरी *

जिसमें अमूल्य शिक्षाएं,सरकारी विभागके मुख्य मुख्य नियम, गीताके श्लोक, (हिन्दी अंग्रेजी बंगला) तिथियाँ, हिन्दू पर्व और व्यावहारिक गणितके कुछ चुने हुए हिसाब हैं। मूल्य ।) सजिल्द।-)

तत्त्वचिन्तामणि (सचित्र)

इसके लेखक श्रीजयदयालजी गोयन्दका हैं, पृष्ठ-संख्या लगभग चारसौ, छपाई सफाई सुन्दर । इसमें भक्ति, ज्ञान, निष्काम कर्म आदि विषयोंपर तात्त्विक दृष्टिसे विचार प्रकट किये गये हैं । मूल्य ॥।-) सजिल्द १)

(क) यह धर्म, कर्म, ज्ञान, भक्ति, वैराग्यके विषयोंपर गंभीर विचारोंसे भरी हुई पुस्तक है। केवल एक इसी पुस्तकको पढ़कर उसपर मनन करनेसे मनुष्यको अपने कर्तव्य और जीवनके उद्देश्यका ज्ञान भलीभाँति हो सकता है ।

—हरीरामजी पाण्डेय एम० ए०
धर्मशिक्षक काशी हिन्दू-विश्व-विद्यालय

---

* डायरी खरीदनेवालोंको एक प्रकारसे डायरीहीके दाममें गीता बिना दाम मिल जाती है । यह प्रत्येक वर्ष अंग्रेजी मासके जनवरी महीनेसे निकलती है ।

ऐसी सुन्दर उपादेय पुस्तक प्रत्येक हिन्दूके घरमें रहनी चाहिये। 'आनन्द' लखनऊ

मानव-धर्म

इसके लेखक श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार, 'कल्याण' सम्पादक हैं। भगवान् मनु-कथित धर्मके दश मूल तत्त्वोंपर व्यावहारिक व्याख्या की गयी है। पुस्तक अत्यन्त उपादेय है। पृष्ठ-संख्या ११२ मूल्य ≡)

भजन-संग्रह

इसमें गोस्वामी तुलसीदासजी, म० सूरदासजी, म० कबीरजी और मीराबाईजीके सुन्दर चुने हुए नित्य गाने योग्य पदोंका संग्रह है। पृष्ठ-संख्या २१६ मूल्य ≈)

प्रेमयोग

लेखक—हिन्दी-संसारके प्रसिद्ध श्रीवियोगी हरिजी पृष्ठ संख्या ४१०, बहुत मोटा कागज, छपाई सफाई अत्यन्त मनोहर। भगवान् श्रीकृष्णके सुन्दर चित्रसहित। मूल्य १।) सजिल्द १॥) प्रेमसम्बन्धी ऐसी पुस्तक हिन्दीमें अजतक नहीं निकली। प्रेमके प्रेमियोंको यह पुस्तक बहुत शीघ्र खरीदकर अपने पास रखनी चाहिये।

नई पुस्तकें छप रही हैं।

(१) गीता गुजराती अनुवादसहित।

(२) गो० तुलसीदासजी-कृत विनयपत्रिका भावार्थसहित।

अन्यान्य पुस्तकें

श्रीधर्मप्रश्नोत्तरी ... =)
हरेरामचौदहमाला सजिल्द।-)
गीताका सूक्ष्म विषय पाकेट साइज ... ... -)।
गीतोक्त सांख्ययोग और निष्काम-कर्मयोग ... -)॥
सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय ... -)॥
मनुस्मृतिका दूसरा अध्याय (भाषाटीका) -)॥
श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश सचित्र -)
त्यागसे भगवत्प्राप्ति सचित्र -)
भगवान् क्या हैं? ... -)
ब्रह्मचर्य ... ... -)
समाजसुधार .. -)
विष्णुसहस्रनाम मोटाटाइप)॥।

श्रीहरेरामभजनपुस्तक ...)॥।
बलिवैश्वदेवविधि ...)॥
संध्या (हिन्दी विधिसहित))॥
प्रश्नोत्तरी शंकराचार्यकृत (भाषाटीका)... ...)॥
गीता केवल दूसरा अध्याय भाषा टीका सहित)।
धर्म क्या है? ...)।
दिव्यसन्देश हिन्दी, मराठी, बंगला प्रत्येकका मूल्य ...)।
पातञ्जलयोगदर्शन मूल)।
गजलगीता ... आधा पैसा
लोभमें पाप है आधा पैसा
पत्रपुष्प सचित्र भजनपुस्तक =)॥
मनको वशमें करनेका उपाय सचित्र -)।

कल्याणका भगवन्नामांक सचित्र पृष्ठ ११० १।)
(कल्याणकी मांग अलग लिखिये)।

कल्याण

(भक्ति ज्ञान वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र)

वार्षिक मूल्य ४≈)

कौन क्या कहते हैं:—

"···मैं इसके भक्ति-विषयक लेखोंको पढ़कर जिस आनन्द-की प्राप्ति करता हूं, उसका अनुभव मेरा हृदय ही कर सकता है।···ईश्वर करे यह सबका कल्याण साधन करे······।"

—हिन्दीके आचार्य पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी।

"···कल्याणने निकलकर हिन्दी-साहित्यके एक बड़े अङ्ग-की पूर्ति की है, अबतक धर्म और दर्शन-विषयक इतना सुन्दर और सुसम्पादित पत्र जहांतक मैं जानता हूं, कोई न था।······"

—रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा।

"हिन्दीके अध्यात्म-ज्ञान और भक्ति-क्षेत्रमें 'कल्याण' जो कार्य कर रहा है वह अनुपमेय है। अपने विषयका यह बिल्कुल अनोखा पत्र है। सुन्दर लेख-चयन और अच्छी छपाई-सफाईके साथ साथ विज्ञापन न छापनेके आदर्शका पालन करते तथा प्रतिवर्ष एक इतना सुन्दर विशेषांक निकालते हुए भी वह सिर्फ ४≈) वार्षिकमें अपने पाठकोंके हृदयमें भक्ति, ज्ञान और वैराग्यकी जो सुरसरि बहाता है वह सर्वथा प्रशंसनीय है × × × आशा है कि हिन्दीके पाठक ऐसे अच्छे पत्रको खूब अपनायेंगे। ('प्रताप' कानपुर)

'कल्याण' हिन्दी-साहित्यमें भक्तिका पवित्र स्रोत बहानेका सफल उद्योग करनेवाला प्रथम मासिक है। इसके लेखोंमें स्फूर्ति होती है—हृदयपर तन्मयताकी बेहोशी छिड़कनेका एक अजीब मस्ताना रंग होता है। ('कर्मवीर' खंडवा)

गीताङ्क

पृष्ठ-संख्या ५०६ चित्र-संख्या १७० मूल्य २॥=) सजिल्द ३=) डाक महसूलसहित।

(क) बड़ा सुन्दर संग्रह है, खूब प्रचार होना चाहिये।

—महामना पं० मदनमोहन मालवीय

(ख) गीतांककी मनोहर चित्रावली, सुन्दर छपाई और बहुमूल्य लेखोंका मुझपर बहुत ही प्रभाव पड़ा।

-Otto strauss

प्रोफेसर ब्रेसलाउ युनिवरसिटि, जर्मनी

(ग) गीतांकको देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ, मैंने ऐसी आशा नहीं की थी। बड़ा ही सुन्दर ग्रन्थ निकला है, भारतीय कल्याणसन्देशके प्रेमियोंके लिये निश्चय ही यह एक सुन्दर साथी है।

—एफ०ओ०श्राडर, प्रो०कील युनिवरसिटि,जर्मनी

(घ) गीताङ्क बड़ा सुन्दर है, छपाई सफाई मनोहर है, यह प्रत्येक घरमें रहना चाहिये। मैं कह नहीं सकता कि मेरे लिये यह कितने कामकी वस्तु होगी।—

महामहोपाध्याय पं०गंगानाथजी झा वाइस चैन्सलर,इलाहाबाद युनिवरसिटि